राजयोग ग्रन्थमाला—२

ध्यान से आत्म-चिकित्सा

अर्थात्

प्रो० अर्नेष्ट ई० मंडे की

'स्टडीज़ इन सेल्फ हीलिंग ऑर क्योर बाइ मेडिटेशन,
ए प्रैक्टिकल ऐप्लिकेशन ऑव दि प्रिंसिपल्स
ऑव दि ट्रू मिस्टिक हीलिंग ऑव दि
एजेज़' पुस्तिका का
हिन्दी रूपान्तर

रूपान्तरकार
व्योमचन्द्र

संपादक; डा० दुर्गाशंकर नागर डी० एम० सी०
ओ, एम० ई० एच० जी०

प्रकाशक
आध्यात्मिक अन्वेषण सभा
उज्जैन (सी० आई०)

प्रथम बार १०००] सं० १९८४ वि० [मूल्य ।) आना

विषय-सूची

		पृष्ठ
वक्तव्य	... ...	१–२
प्रस्तावना	... ...	१–३
उपक्रम	... ...	१–४
नियम	... ...	१–३
पहला ध्यान	सर्वं खल्विदं ब्रह्म	१
दूसरा ध्यान	सोऽहं	५
तीसरा ध्यान	पदार्थ की अस्थिरता	१०
चौथा ध्यान	सर्वं यदयमात्मा	१४
पाँचवाँ ध्यान	स्वास्थ्य मेरा जन्म सिद्ध स्वत्व है। ...	१८
छठा ध्यान	मनुष्य में निसर्ग-सिद्धि	२२
सातवाँ ध्यान	विचार बल	२८
आठवाँ ध्यान	अस्वीकृतियाँ	३३
नवाँ ध्यान	स्वीकृतियाँ	३९
दसवाँ ध्यान	प्रेम और भय	४४
ग्यारहवाँ ध्यान	आत्म संयम	५२
बारहवाँ ध्यान	एकाग्रता	६२

ध्यान से आत्म-चिकित्सा।

पहला ध्यान

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" *

जैसे दूध में घी सर्वत्र रहता है, वैसे ही ब्रह्म भी जगत् में सर्वत्र व्याप्त रहे।

स्वामी विवेकानन्द

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' सब कुछ ब्रह्म ही है। सब कुछ में केवल वे ही वस्तुएँ सम्मिलित नहीं हैं जिन्हें हम भली, मंगलमय समझते हैं किन्तु उसमें वे भी सम्मिलित हैं जो हमें बुरी, अमंगलमय दिखाई देती हैं।

---

* छांदोग्योपनिषत्।

सत्य और सुंदर होने के साथ साथ परमात्मा शिव है, मंगल है। "सत्यं शिवं सुंदरम्"। अब यदि हम बुराई की, अमंगल की सत्ता स्वीकार कर लें तो हम उस सर्वोच्च सिंहासन पर जिस पर केवल परमात्मा का अधिकार है, उसका एक प्रतिद्वंदी बिठलाते हैं। अतएव अमंगल कुछ नहीं: मंगल ही, शिव ही, परमात्मा ही सब कुछ है।

परमात्मा के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं, किसी की सत्ता नहीं। इसीसे उसे सत्य कहते हैं। वह नाशवान नहीं है। परमात्मा प्रकृति के बाहर और भीतर सब कहीं है। परमात्मा प्रकृति है और प्रकृति परमात्मा है। परमात्मा प्रकृति के ऊपर और परे है। यदि प्रकृति के साम्राज्य के बाहर किसी जगह की कल्पना कर सकते हो तो वहाँ भी परमात्मा है। इस प्रकार परमात्मा प्रकृति के भीतर और प्रकृति के बाहर है।

प्रकृति परमात्मा की दृश्य प्रतिमा है, उसका प्रत्यक्ष स्वरूप है। परमात्मा को परब्रह्म और दिव्य चेतन कहते हैं। धर्मोपदेशक हमें बतलाता है कि परमात्मा सर्व शक्तिमान है, सर्वव्यापक है, सर्वज्ञ है और सर्वद्रष्टा है।

परमात्मा इस से भी अधिक कुछ और है। सब गुणों के उत्पत्तिस्थान वा मूल होने के कारण हम परमात्मा पर गुणों का आरोप नहीं कर सकते। परमात्मा सर्वशक्ति है, सर्वव्याप्ति है, सर्वज्ञान है और सर्व दृष्टि है, यह कहना अधिक संगत होगा। मनुष्य प्रेम-मय है किंतु परमात्मा

प्रम है, मनुष्य मंगलमय है किंतु परमात्मा मंगल है, मनुष्य स्वस्थ और वलिष्ठ है किंतु परमात्मा स्वास्थ्य और वल है।

मैं प्रकृति का एक पूर्णांश हूँ अतएव निश्चय ही मैं परमात्मा का भी अंश हूँ। मेरा परमात्मा से वही संबंध है जो नारंगी की एक फाँक का सारी नारंगी से है, जो एक जल कण का सागर से है। तत्व में, सार में, मैं और परमात्मा एक हैं किंतु मात्रा में नहीं। दिनकर-मंडल से अनंत रश्मियाँ संसार पर नित्यशः पड़ा करती हैं परंतु इससे क्या उसका तेज घटता जाता है? इसी तरह मेरा जीवन प्रवाह उस महान् जीवनोद्गम से फूट पड़ा है। किंतु उसके तेज, वल और महत्व में कुछ भी अंतर नहीं आया है। मुझ में पारमात्मिकता उतनी ही मात्रा में है जितने की खींच सकने की मुझ में सामर्थ्य है; उससे अधिक नहीं। मेरा वास्तविक 'मैं' यही है। और जैसे मुझ में आध्यात्मिक जीवन की अभिवृद्धि होती जायगी वैसे ही मेरे इस वास्तविकत्व का, इस सत्य स्वयं का, इस 'मैं' का विस्तार वढ़ता जायगा।

इस लिए मेरा आत्मा जो उस अनंत के प्रत्यक्ष स्वरूप का सार है कभी रुग्ण वा अस्वस्थ नहीं हो सकता। क्या परमात्मा को रोग शोक व्याप सकता है? इस भाव पर हमें हँसी आती है। यदि परमात्मा कभी रुग्ण, अस्वस्थ और शोक-ग्रस्त नहीं हो सकता तो न्यायसंगत और स्वाभाविक

परिणाम यही निकलता है कि "मैं", मेरी चेतनता, परिपूर्ण है, मेरा वास्तविक आत्मा स्वस्थ है।

समुद्र से एक बूँद पानी लो। उसका निरीक्षण कर देखो, उसमें सागर के सब गुण मिलेंगे, उसमें न्यूनाधिक नहीं। सूर्य-प्रकाश की एक किरण में सूर्य का सार है। नारंगी की एक फाँक में सारी नारंगी का स्वाद विद्यमान है। मैं परमात्मा का एक अंश हूँ। वह मेरा पिता है, मैं उसका पुत्र हूँ। वह सब गुणों का उत्पत्ति स्थान और पूर्ण स्रोत है। इस लिए मुझ में उसके समस्त गुण विद्यमान हैं।

फिर भी मेरा शरीर रुग्ण क्यों है?

दूसरा ध्यान

सोऽहं

यत्पूर्णानंदैक बोधस्तद्ब्रह्माहम्

—जाबालोपनिषद्

पहले ध्यान के अंत में यह समस्या हमारे सामने खड़ी हुई थी—मेरा शरीर रुग्ण क्यों है? उत्तर केवल यही है कि हमें उस ध्यान में प्रतिपादित महान् सत्यता की अनुभूति नहीं मिली है।

जो कुछ हमने पिछले ध्यान में कहा है उसको दुहरा लेना चाहिए। हमारा ध्येय था—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—सब कुछ परमात्मा ही है और परमात्मा ही सब कुछ है। परमात्मा का दृश्यमान् स्वरूप प्रकृति है। मैं प्रकृति का एक अंश हूँ। इसलिए मैं परमात्मा का प्रत्यक्ष स्वरूप हूँ और मेरा शरीर मेरे आत्मा का, मेरे आंतरिक स्वयं का प्रत्यक्ष प्रतिरूप है।

परमात्मा को रोग, शोक नहीं व्याप सकता और मैं, मेरा वास्तविक स्वयं परमात्मा के साथ एक है। इसलिए मुझे भी रोग, शोक नहीं व्याप सकता। पर मेरा शरीर जो मेरे आंतरिक स्वयं का पूरा बाह्य रूप है तो भी बीमार मालूम देता है।

यह क्यों ? जैसे कहा जा चुका है, केवल इसलिए कि इस तर्क में निहित महान् सत्यता की हमने अनुभूति नहीं पायी है।

हमारा शरीर एक रथ* है जिस पर इन्द्रियों के घोड़े जुते हैं, घोड़ों पर मन की लगाम लगी हुई है, लगाम सारथी बुद्धि के हाथ में है "परम पद" का पथिक आत्मा रथ पर सवार है। रथ के स्वामी पथिक ने सारथी को आज्ञा दी कि अमुक स्थान को प्रस्थान करना है। सारथी ने लगाम को झटका दिया, घोड़ों ने संकेत को समझा और अपने रुख़ का निश्चय किया। इस प्रकार रथ स्वामी के अधीन है; शरीर आत्मा के अधीन है, किंतु यह क्रम उलट गया है। स्वामी सो गया है, सारथी ने किंकर्तव्य विमूढ़ होकर लगाम को ढीली छोड़ दिया है। घोड़ों पर कोई अंकुश नहीं है। रथ कहीं का कहीं जा रहा है। यों कहना चाहिए कि रथ स्वामी के वश में न होकर स्वामी रथ के वश में है; शरीर आत्मा के शासन में नहीं है, आत्मा शरीर के शासन में है।

यदि मैं इस उलटे क्रम को पलट कर स्वाभाविक क्रम की स्थापना कर सकूँ, यदि आत्मा को जगा कर शरीर पर उसका शासन जमा सकूँ तो फिर उपद्रवों के लिए स्थान न रह जाय, रोग शोक पास फटकने ही न पावें। फिर रुग्ण वा स्वस्थ होना मेरी इच्छा पर निर्भर होगा और क्योंकि मैं रुग्ण होना

---

* आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु, बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च। (कठोपनिषत)

नहीं चाहता, इसलिए मैं अवश्य स्वस्थ हो जाऊँगा। यही नियम भी है। नियम से अभिप्राय है ईश्वर की अपरिवर्तनीय आज्ञा का जिसका कभी उल्लंघन नहीं हो सकता।

परमात्मा का मुझ में उसी प्रकार वास है जिस प्रकार अपने पुत्र में सांसारिक पिता का। और हमारा वास परमात्मा में है, उसी में हमारी गति है और उसी में हमारा अस्तित्त्व भी।

मेरा वास परमात्मा में है और परमात्मा का वास मुझ में।

परमात्मा मैं हूं, मैं परमात्मा हूं, सोऽहं।

सोऽहं। यदि यह बात न होती तो मेरा अस्तित्व ही नहीं होता, मेरा आत्मा, मेरा स्वयं यहाँ रहता ही नहीं। परंतु सोऽहं। मैं परमात्मा हूँ, परमात्मा मैं हूँ। परमात्मा का वास मुझ में है, मेरा वास परमात्मा में। मेरा परमात्मा से मेल है, योग है। अतएव मैं मर नहीं सकता। मैं बीमार नहीं हूँ, मैं स्वस्थ हूँ। सोऽहं।

मैं अपना शरीर नहीं हूँ। पदार्थवादी इसे स्वीकार नहीं करेगा। परन्तु वह गलती पर है। वह कहेगा कि मन पदार्थ की कृति है। किन्तु यह सत्य नहीं। प्रत्युत पदार्थ मन की कृति है। वास्तविक 'मैं' मेरा आत्मा है। इस 'मैं' का उद्भव उस महान् चेतनता से, उस महान् 'मैं' से हुआ है जिसे हम परमात्मा कहते हैं। यही 'मैं' मेरा वास्तविक सार है। इसी में मेरा महत्व है। यही उस परम आत्मा से मेरा, आत्मा का मेल करता है, मुझे उसका शिशु बतलाता है।

सोऽहं। मैं दिव्य तत्त्व से बना हूँ। मुझ में केवल परमात्मा का सादृश्य ही उसका तत्त्व है, उसकी वास्तविकता है। इस लिए मैं परिस्थितियों का अशक्त, असहाय पुतला मात्र नहीं हूँ। रोग, शोक, चिंता का शिकार नहीं हूँ। अमंगलोद्भाविनी शक्तियों का खेलवाड़ नहीं हूँ। नहीं हूँ मैं बुरी आदतों का क्रीत दास।

सोऽहं। मैं और मेरे पिता एक हैं। जिस प्रकार मेरा परम पिता अपनी सृष्टि की रचना करता है और उस पर शासन करता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी सृष्टि रचता हूँ और उस पर शासन चलाता हूँ। मेरी परिस्थितियाँ मेरे वश में हैं। मैं अमांगलिक शक्तियों का शिकार, दास या आज्ञाकारी भृत्य नहीं हूँ। अमंगल की वास्तविकता नहीं है; उसकी सत्ता नहीं है। वह केवल मंगल का अभाव है। उसी प्रकार जिस प्रकार अंधकार प्रकाश का अभाव है।

प्रकाश का प्रवेश करो, अंधकार विलीन हो जायगा। परमात्मा की, शिव की, मंगल की उपस्थिति का अनुभव करो, अमंगल भाग जायगा। उसका कोई भी रूप न रह जायगा विरुद्ध परिस्थितियाँ, अस्वस्थता, रोग, बुरी आदतें और पाप वासनाएँ सब छूमंतर हो जायँगी। एक ही स्थान पर एक ही समय अंधकार और प्रकाश रह नहीं सकते। इसी प्रकार मंगल और अमंगल भी एक ही स्थान पर एक ही समय नहीं रह सकते। मंगल और प्रकाश वास्तविक हैं और अमंगल और

अन्धाकार अवास्तविक और असत्य। अतएव मुझे अंधकार और अमंगल को भगाने के लिए केवल प्रकाश और मंगल को उपस्थित करना है।

इसलिए मैं प्रण करता हूँ कि मैं अपने घर में, अपने शरीर में अपना उचित स्थान ग्रहण करूँगा। मैं अब से उसका सेवक बनकर नहीं रहूँगा, उसका स्वामी बन जाऊँगा। मैं अपने शरीर पर शासन करता हूँ। मेरा शरीर मुझ पर शासन नहीं करता। मेरे भीतर से परमात्मा प्रणव शब्द का उच्चारण करता है-'स्वस्थ बनो', और मैं स्वस्थ हूँ। क्योंकि पूर्ण विश्वास पूर्वक उच्चारण की गयी सत्यता व्यर्थ नहीं जाती।

तीसरा ध्यान

पदार्थ की अस्थिरता

"मनुष्य में परिवर्तनशील पदार्थ हैं, और मनुष्य में निर्विकार, निर्विकल्प, नित्य, वास्तविक आत्मा है। वास्तविक आत्मा सूर्य के समान है। और बदलने वाले तत्त्व तीन शरीर हैं—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर......ये तीनों शरीर परिवर्तन शील पदार्थ हैं। ये आत्मा नहीं, किन्तु अनात्म हैं। ये परिवर्तनशील और अस्थिर हैं। ये तुम—आप नहीं। तुम—आप निर्विकार हो निर्विकल्प हो"

स्वामी रामतीर्थ

इस ध्यान में पदार्थ का आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करना है। प्रकृति-विद्या-विशारदों का मत है कि दृश्यमान सृष्टि पदार्थ-विनिर्मित है, पदार्थ से बनी है। जो कुछ इन बाहरी आँखों से दिखायी देता है और जिसे हम छू सकते हैं, वह पदार्थ है। दूसरे शब्दों में पदार्थ निदर्शन, दिखलावा या आभास मात्र है।

धूप में खड़े हो जाओ, तुम्हारी छाया पड़ेगी: धूप से हट जाओ, छाया भी लोप हो जायगी। दर्पण के सामने खड़े हो जाओ, तुम्हारा प्रतिबिम्ब उसमें दिखायी देगा: दर्पण के सामने से हट जाओ, तुम्हारा प्रतिबिम्ब विलुप्त हो जायगा।

प्रतिविम्ब वा छाया का वास्तविक अस्तित्व नहीं था। केवल दिखलावा वा आभास मात्र था।

इसी तरह पदार्थ की भी वास्तविकता, असलियत नहीं है, न उसका अस्तित्व ही है। उसमें कोई जीवन नहीं। हाँ, परमाणु जिनके योग से पदार्थ बनता है, अविनाशी हैं। आधुनिक विज्ञान विशारद बतलाते हैं कि ये परमाणु भी सूक्ष्मतम विद्युदणुओं (elctrones) से बने हैं। ये विद्युदणु शक्ति के निदर्शन हैं।

आदिम तत्वों में विभक्त हो जाने पर पदार्थ अचिंत्य और अदृश्य हो जाता है। पदार्थ के तीन रूप हैं, दृढ़, द्रव और अदृश्य। पत्थर, जल और वायु क्रमशः इनके उदाहरण हैं। इन तीनों रूपों में पदार्थ सदैव परिवर्तनशील हैं। गुण वा आकार की उसमें कोई स्थिरता नहीं। वह अस्थिर है।

पदार्थ स्थिर नहीं है। वह या तो जुड़ कर नयी वस्तु के रूप में प्रकट हो रहा है, वा किसी वस्तु के नष्ट हो जाने पर विभक्त हो रहा है! पदार्थ के निरंतर नये रूप बन रहे हैं और पुराने नाश हो रहे हैं। जो बन रहे हैं उनका नाश होगा और जिनका नाश हो रहा है, वे फिर नये रूप में प्रकट होंगे। इसी प्रकार सृष्टि और संहृति का क्रम बराबर चलता आ रहा है।

परमाणुओं में अपना कोई जीवन नहीं है। उनमें क्रियाशक्ति नहीं है और निराश्रय उनका अस्तित्व (हस्ती) भी नहीं रह सकता। मुर्दा (शव) इस सत्य का अच्छा उदाहरण है।

जब तक मनुष्य में जीवन रहता है, वह चलता फिरता है, सोचता विचारता है, काम-काज करता है और बढ़ता जाता है। उसके शरीर की कभी एक अवस्था नहीं रहती। किंतु मनुष्य के निर्जीव हो जाने पर उसका शरीर निश्चल हो जाता है। वह न हिल डुल सकता है, न सोच विचार सकता है और न बढ़ ही सकता है। परंतु स्थिर वह भी नहीं रहता। उसमें सड़न आने लगती है और वह पंचत्त्व को प्राप्त हो जाता है।

यह तो हुई शव की बात। किंतु जीवित मनुष्य-शरीर भी जिसमें स्वयं परमात्मा का वास है सतत बदलता रहता है। शारीर-शास्त्र के जानने वाले कहते हैं कि हमारा मांस, मज्जा, अस्थि, पेशी, स्नायु, रक्त आदि सब बहुत ही छोटे छोटे कोष्ठों (Cells) से बने हुए हैं। प्रत्येक कोष्ठ अपने पड़ोसी कोष्ठ से भिन्न है। मनुष्य के शरीर में ये कोष्ठ अनंत और अगण्य हैं और निस्सहाय नेत्रों से नहीं देखे जा सकते। ये निरंतर नष्ट होते जाते हैं। जब हम स्नान करते समय शरीर को अँगोछे से रगड़ते हैं तो लाखों कोष्ठ जिनका काम हो चुका होता है और जो इसलिए निरर्थक हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं; किंतु लाखों उनकी जगह नये भी पैदा हो जाते हैं।

फिर पदार्थ है क्या? वह मन का प्रत्यक्ष निदर्शन मात्र है। अदृश्य और अस्पृश्य मन आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर अपनी इच्छा शक्ति से पदार्थ की सृष्टि करता है और उसके द्वारा विकसित और उन्नत होता है। अब मालूम हो गया कि पदार्थ

मन की सृष्टि है। इसलिए पदार्थ मन का सेवक है, स्वामी नहीं। और शरीर पदार्थ से बना है, पदार्थ है। सुतरां शरीर को अपना दास बना कर रखने का जो मैंने संकल्प किया है, वह सर्वथा उचित है। अब मेरा शरीर मेरा सेवक है। उसे मैं जैसा चाहूँ, बना सकता हूँ। वह मेरी इच्छा के प्रतिकूल नहीं हो सकता। मेरी इच्छा है कि वह नीरोग बने इसलिए वह अवश्य नीरोग बनेगा।

चौथा ध्यान

सर्वं यद्यमात्मा ❀

I am not merely body-flesh and blood
And bones and senew; this and nothing more.
I am the offspring of the Eternal Mind,
And claim relationship to Omnipotence.
This is my birth-right, this my heritage—
I am the son of God; I am true mind.

मैं केवल शरीर ही नहीं—मांस और रक्त का
और अस्थि और नसों का; यही और अधिक कुछ नहीं।
मैं हूँ शश्वदात्मा की संतति
और दावा रखता हूँ सर्वशक्ति के साथ संबंध का।

× × ×

यह मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, यह मेरी पैत्रिक संपत्ति—
मैं परमात्मा का पुत्र हूँ, मैं वास्तविक आत्मा हूँ।

उपनिषद् कहता है, "सर्वं यद्यमात्मा"। सब कुछ आत्मा है वा आत्मा ही सब कुछ है और हम देख चुके हैं कि परमात्मा ही सब कुछ है। यह तब तक नहीं हो सकता जब तक कि आत्मा और परमात्मा एक न हों। और बात भी यही है। परमात्मा के नाम का ध्यान करते हुए हमें आगे इसका अनुभव होगा।

❀ बृहदारण्यकोपनिषद्।

हमने परमात्मा को परब्रह्म, दिव्य मनस् नाम से पुकारा है। अब हम सच्चिदानंद नाम से उसका ध्यान करेंगे। परमात्मा सच्चिदानंद है; सत् है, चित् है, आनंद है।

वह सत् है; उसका और उसी का अस्तित्व है। दूसरे के लिए रहने की जगह ही नहीं है। अहं कहने वाले इतने हैं, आत्मा के प्रतिरूप इतने हैं; क्या इनका अस्तित्व नहीं है? है तो-किंतु परमात्मा में। ये सब परमात्मोद्भव हैं। सब एक हैं। अतएव आत्मा एक है और वह परमात्मा है। परमात्मा को सत्य भी इसी लिए कहा जाता है।

वह चित् है, चैतन्यरूप है। समस्त संसार में जितनी चेतनता है, उस सारी का उद्गम वही है। परमात्मा पदार्थ के भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट होता है, और पदार्थ के इन सब रूपों में उसकी चेतना का कुछ अंश रहता है। इसी लिए हम मूर्ति में परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव कर उसे मस्तक नवाते हैं।

प्रत्येक चट्टान वा पत्थर में, दृढ़ वा द्रव-दृश्य वा अदृश्य पदार्थ में, सब चीज़ों में जिनसे यह पृथ्वी बनी है, चेतना उतनी ही मात्रा में है जितनी कि प्रत्येक खींच सकती है। धातु-जगत् में चेतना की भिन्न २ अवस्थाएँ हैं। निम्न श्रेणी की धातुओं से मूल्यवान धातुओं में अधिक चेतना है। नीलम हीरा आदि में कंकड़ पत्थरों से जिनके बीच वे पाये जाते हैं चेतना की मात्रा कहीं अधिक है।

वनस्पति जगत् में चेतना का प्रवाह धातु-जगत् से बहुत

अधिक है। वहाँ भी भिन्न २ अवस्थाएँ हैं। किंतु इस महान् चेतना का सर्वोत्कृष्ट दृश्यमान रूप मानव-परिवार है। दूसरे ग्रहों की बात तो हम नहीं कह सकते, परंतु हमारी पृथ्वी में तो साकार परमात्मा का सर्वोत्तम, सर्वोच्च और परमोत्कृष्ट रूप मनुष्य ही है। अन्य ग्रहों में और भी उच्चतर चेतनाएँ हो सकती हैं किंतु साधारण मनुष्य की शक्तियाँ इतनी विकसित नहीं हैं कि उनका अनुभव कर सके।

इस लिए मैं पृथ्वी पर परमात्मा का महत्तम, सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट रूप हूँ। मैं परमात्मा का पुत्र हूँ, यह मेरा स्वत्त्व है और इसी स्वत्त्व में मेरी महत्ता है। इसे मुझ से कोई छीन नहीं सकता। परमात्मा और आत्मा मिलकर साक्षी देते हैं कि आत्माधारी, मनुष्य परमात्मा का पुत्र है। जो कहे कि मनुष्य पर शैतान का, अमंगल का प्रभाव पड़ सकता है, वह हमें शैतान का, अमंगल का पुत्र बतलाता है। किन्तु यह सरासर झूठ है, क्योंकि हमें पहले ध्यान में अनुभव हो चुका है कि अमंगल का अस्तित्व ही नहीं है। अमंगल कोई चीज़ ही नहीं है, केवल मंगल का अभाव है। परमात्मा ही अनंत जीवन स्रोत है। वही हमारा पिता है। समग्र मानव परिवार विना वर्ण जाति वा धर्म के विचार के परमात्मा के पुत्रत्त्व का दावा कर सकता है। "योनः पिता जनिता यो विधाता……" "सैवाऽहं"

"I am the sonof God, Iam true mind"

"मैं परमात्मा का पुत्र हूँ, मैं वास्तविक आत्मा हूँ।

किन्तु वास्तविक आत्मा है क्या ? "वास्तविक आत्मा सूर्य के समान है" (रामतीर्थ) "वह वह प्रकाश है जो संसार में अवतीर्ण होने वाले प्रत्येक मनुष्य को प्रकाशमान करता है।" "The light that lighteth every man that cometh into the world." जो मनुष्य आत्मा को विकसित करता है वह जानता है कि उसमें मस्तिष्क वा बुद्धि से कितनी अधिक शक्ति है। वह मस्तिष्क से भिन्न है। शक्ति और समझ में वह मस्तिष्क से परे है। यही मनुष्य में सार है, प्रत्युत वास्तविक मनुष्य है, सत्य स्वयं है।......यही वास्तविक सृष्टि है" (इलिव) वह सर्व-व्यापक है। "वही नीचे है, ऊपर है, पीछे है, आगे है, दक्षिण में है, उत्तर में है, सब कहीं है, सब कुछ है *"। यही वास्तविक आत्मा, यही अदृश्य और अज्ञेय स्वयं मनुष्य का स्रष्टा से योग करता है, उसे परमात्मा से संबद्ध करता है, उसको परमात्मा का पुत्र बतलाता है। "जो आत्मा को ही देखता है, सोचता है, प्यार करता है वह आत्मा के साथ खेलता है, रति करता है, घुल मिल जाता है, वह आत्मा ही में आनंद पाता है, वह 'स्वराट्' हो जाता है, उस तेज-स्वरूप में मिल जाता है †", समस्त चेतना को खींच लेता है।

परमात्मा आनंद है। सुंदर वस्तुओं को देख कर हमें आनंद

---

* एवात्मैवाऽधस्तादात्मो परिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेद ५ सर्वमिति।—सामवेद छा० उ०।

† स वा एष एवं पश्यन्नेव एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानंदः स स्वराट् भवति। —छां० उ०

होता है, वे हमें आकर्षित कर लेती हैं। हम चाहते हैं कि वे वस्तुएँ हमारी होतीं या हम उनके होते! क्यों? इसलिए कि उनमें परमात्मा का विशेष अंश है। परमात्मा स्वयं सुंदर और आनंद दायक है। अतः वह स्वयं आनंद है। मैं परमात्मा का पुत्र हूँ। अतएव इस आनंद पर मेरा पूर्ण अधिकार है। मेरा परम पिता आनंद का स्रोत बहा रहा है और मैं उसमें नहा रहा हूँ। स्वास्थ्य और बल की गरम तरंगें परमात्मा से प्रवाहित होकर मेरे सारे शरीर में प्रवेश कर रही हैं; और अंग अंग में जीवन, शक्ति और उत्साह भर रही हैं। निस्संदेह, ऐसे प्रबल और प्रथित प्रभाव से स्वास्थ्य और बल का प्रादुर्भाव हुए बिना नहीं रह सकता।

तं त्वा भग प्रविशानि, स्वाहा।
स मा भग प्राविश, स्वाहा।
तस्मिन् सहस्र शाखे;
निभगाऽहं त्वयि मृजे, स्वाहा*।

परमात्मन्! मैं तुझ में विलीन हो जाऊँ,
मेरी सत्य वाणी है।
तू मुझ में प्रवेश कर, मेरी सत्य वाणी है।
तेरी माया की हजारों शाखाएँ हैं;
किन्तु मैं तुझमें नहा रहा हूं, मेरी सत्य वाणी है।

---

* सुष्ठु आहा, सुंदर (सत्य) वाणी।

पाँचवाँ ध्यान

स्वास्थ्य मेरा जन्म सिद्ध स्वत्त्व है।

**न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां
सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः।**

(छां० उ०)

सर्वात्म दृष्टि होने से न मृत्यु, न रोग, न दुःख ही पास फटक सकता है। जिसने आत्मा को जान लिया उसे सब प्रकार से सभी वस्तुएँ मिल जाती हैं।

हम सत्य के ज्ञान से ही सर्वथा नीरोग हो सकते हैं, सब अमंगलों को भगा सकते हैं। ये ध्यान धीरे धीरे हमें उस सत्य का ज्ञान बतला रहे हैं।

आरोग्यता पर पहुँचने के लिए हम चार सीढ़ी चढ़ चुके हैं। पहली में हमने सीखा कि मंगल, शिव, परमात्मा ही सब कुछ है। दूसरा में हमने जाना कि परमात्मा से निकली हुई एक किरण ने मांस का शरीर धारण किया और मनुष्य हो गयी। तीसरी सीढ़ी में मालूम हुआ कि पदार्थ अस्थिर है। चौथी में हमने देखा कि आत्मा ही सब कुछ है। अब हम पाँचवीं सीढ़ी पर हैं, अब हमें अनुभव होगा, स्वास्थ्य मेरा जन्मसिद्ध स्वत्व है।

परमात्मा क्या है यह तो हम समझ ही चुके हैं। वह मंगल-स्रोत है। वेद में उसे निधीनाम् निधिपति, नौ निधियों के खज़ाने का स्वामी कहा है।अधिक उपयुक्त रूप से भी गीता में उसे 'परम् निधानम्' उद्घोषित किया गया है। वह एक महान कोष है। ऐसी कोई चीज़ नहीं है जिसे आँखें देख सकती हैं या नहीं देख सकतीं, कान सुन सकते हैं या नहीं सुन सकते, मन सोच सकता है या नहीं सोच सकता, और जो वहाँ न हो। वहाँ निश्शेष वस्तुएँ हैं। उस महान् कोष में आदर्श, स्वास्थ्य और बल का बाहुल्य है। और सच तो बात यह है कि सब मंगल वहाँ जमा रक्खे हैं।

हाँ, उस महान् कोष में रोग, शोक, दुःखादि कल्पित अमंगल नहीं हैं। क्योंकि अमंगल का अस्तित्व ही नहीं है। वह केवल मंगल का अभाव है। और हमें मालूम हो चुका है कि मंगल और अमंगल एक ही स्थान पर नहीं रह सकते।

मनुष्य ईश्वर का पुत्र है, इस लिए उसका स्वत्व (हक़) है, और इसके लिए उसके पास सत्त्व (बल) भी है कि वह इस ख़ज़ाने में से अपनी आवश्यकतानुसार शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास के लिए सब चीजें ले ले। मनुष्य का जन्मसिद्ध स्वत्व स्वास्थ्य और बल आदर्श रूप में वहाँ मौजूद हैं। वह चाहे तो उन्हें अपना सकता है।

इस आश्चर्यजनक सत्य को मैं अपने ऊपर कैसे घटा सकता हूँ। परमात्मा-स्वस्थ नहीं, स्वास्थ्य है। यह स्वास्थ्य मेरा है।

यह मेरा जन्मसिद्ध स्वत्व है। इसका कोई भी अपहरण नहीं कर सकता। मेरे परम पिता की यह मेरे लिए स्वतंत्र भेंट है। फिर भी मेरा शरीर रुग्ण सा क्यों है? क्योंकि मैंने आज तक इस महान् सत्य की पूर्ण अनुभूति नहीं पायी है। और इस कारण उससे लाभ नहीं उठा सका हूँ।

अब मैंने जान लिया है कि परमात्मा स्वास्थ्य है और स्वास्थ्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और यह मेरा कर्तव्य है कि मैं उस पर अभी अपना स्वत्त्व जमा लूं। मैं इस खजाने में जहां मेरे लिए स्वास्थ्य संगृहीत है, हाथ डालता हूं और स्वास्थ्य का अपने अंदर प्रवेश करता हूं। मैं हमेशा इसे अपने पास रक्खूंगा। कभी भी इससे जुदा न हूंगा। मैं अब अनुभव कर रहा हूं कि आदर्श स्वास्थ्य और बलकी तरंगें मेरे शरीर के भीतर और बाहर और चारों तरफ प्रवाहित हो रही हैं। और मेरे समस्त रोग, शोक और क्लेश को धोकर मुझे स्वच्छ, शुद्ध और पवित्र बना रही हैं।

छठा ध्यान

मनुष्य में निसर्ग-सिद्धि

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः

—गीता

अपने कामों से उसकी (परमात्मा की) पूजा कर—अपने व्यवहार से उसका अनुसरण कर—मनुष्य सिद्धि को पाता है।

पिछले ध्यान में हम स्वास्थ्य-सोपान की पाँचवीं सीढ़ी पर थे; अब यह मनुष्य में—निसर्ग-सिद्धि नाम की छठी सीढ़ी है। इस ध्यान का उद्देश्य यह दिखलाना है कि जहाँ तक उसके शरीर का सम्बन्ध है मनुष्य में सिद्धि निसर्गतः ही निहित है और उसे प्राप्त करना केवल उसे व्यक्त करना है।

मैं परमात्मा का पुत्र हूँ, परमात्मा संपूर्ण संसिद्धि है, अतएव मैं निसर्गतः सिद्ध हूँ। किसी सांसारिक संपत्ति के उत्तराधिकारी में उस संपत्ति का स्वामित्व स्वाभाविक ही निहित है। वर्तमान स्वामी के मर जाने पर वह अवश्य ही स्वामी बनेगा। परन्तु आध्यात्मिक बातों के बारे में मामला ही जुदा है। वह उन सब चीजों का जिन्हें परमात्मा उसे दे सकता है,

केवल हक़दार ही नहीं, वास्तविक स्वामी है। परन्तु अज्ञान या प्रमाद-वश वह उन पर दावा नहीं कर सकता। अतएव वह वस्तुतः सिद्ध है। क्योंकि सिद्धि की किरण होने के कारण वह अन्यथा नहीं हो सकता। किन्तु इस सिद्धि का जब तक उसे परिज्ञान न हो जाय वह उसे वास्तविक रूप नहीं दे सकता। ज्ञान हो जाने पर हाथ फैलाते ही वह उसे पा लेगा।

मनुष्य ने जहाँ तक उसके शरीर का सम्बन्ध है निम्न कोटि के अंगणित भिन्न रूपों से विकसित होकर यह रूप पाया है। प्राथमिक जीवन कीट से, एक मात्र कोष्ठ से, जीवन की केवल एक चिनगारी से पूर्ण विकसित मनुष्य (स्त्री वा पुरुष) होने तक लगातार उन्नति होती रही है। यद्यपि कभी कभी इस उन्नति में अनियमितता आ जाती है किन्तु जीवन के प्रत्येक विभाग में अनियमितता एक साधारण सी बात है।

इस उन्नति का, इस सतत अग्रसर गति का क्या अर्थ है? यही कि एक नियत लक्ष्य तक पहुँचना है। और प्रकृति तब तक चुप न होगी जब तक उस लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाय। वह लक्ष्य क्या है? परम पद, सिद्धि, पूर्णता। विना इसकी प्राप्ति के प्रकृति का काम अधूरा रह जाता है। इससे कम किसी भी वस्तु से वह संतुष्ट नहीं हो सकती। शिशु जब अपने माता-पिता के खाने-पीने, बात-चीत करने, और चलने के ढंग की नकल करता है, तो वस्तुतः वह सिद्धि की ओर अग्रसर होता है, यद्यपि हमारे देखने में वह अनजान में ऐसा

करता है। स्कूल का वह विद्यार्थी जो अपने दर्जे में पहला होने का, जितना अधिक हो सके उतना सीखने का, जितना ज्यादे हो सके अपने मस्तिष्क में घोक कर ठूँस भरने का प्रयत्न करता है, सिद्धि को ही अपना लक्ष्य बनाये हुए है।

उससे अधिक चेतना वाला उपस्नातक (Under Graduate) अभीष्ट डिगरी (पद) को पाने के लिए जी तोड़ कर परिश्रम करते हुए सिद्धि को ही उद्दिष्ट करता है। मृत-भाषाओं, गणितशास्त्र वा दर्शनशास्त्र से अधिक जो नौवाहिक-विद्या, फुटबाल वा क्रीकेट की चिंता करता है वह युवक तक शारीरिक सिद्धि की प्राप्ति का ही प्रयत्न करता है। यदि वह उसे प्राप्त न कर सके तो यथा शक्ति उससे निकटतम दशा को तो वह अवश्य पा लेता है। यह बात कि हमें अभी तक सिद्धि मिली नहीं है वा संकुचित अर्थ में मिल सकी है, इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि वह अप्राप्य है। प्रत्युत तर्क-संगत तो यही है कि प्रकृति का किसी लक्ष्य को अपने सामने रखना ही उसकी उपस्थिति ही असंदिग्ध रूप से बतलाती है कि वह प्राप्य है। अन्यथा प्रकृति उसे अपना लक्ष्य बनाने ही क्यों जाती। अपने समक्ष अप्राप्य लक्ष्य रखने से हमारी न्याय-बुद्धि का नाश हो जाता है और हमारे तमाम प्रयत्न हास्यास्पद बन जाते हैं। हमारे धर्म शास्त्र बतलाते हैं कि हमारे ही से कितने ही मनुष्य-शरीर धारी सिद्ध हो गये हैं। परम सिद्ध श्रीकृष्ण अपने स्वरूप को पहचानते थे। उन्होंने कहा था

'सिद्धोऽहं' मैं सिद्ध हूँ। हम उन्हें अवतार मानते हैं, परमात्मा मानते हैं और वह इसी लिए। क्या हम में वह पारमात्मिकता नहीं है जो उनमें थी? अवश्य है। इसीलिए वे आश्वासन भी दे गये हैं कि यदि मनुष्य सिद्धि के लिए प्रयत्न करे तो वह उसे अवश्य प्राप्त होती है॥'* इससे अधिक स्पष्ट शब्द हो ही नहीं सकते। क्या सिद्धि के प्राप्य होने में अब भी संदेह रह सकता है।

मनुष्य का जीवन, परमात्मा का, दिव्यजीवन का सार है; वह पूर्ण है, सिद्ध है। यह आज की बात नहीं। हमेशा से ही ऐसा होता चला आया है जीवन में मात्राएँ नहीं होतीं, वह विभक्त नहीं हो सकता, वह एक है। कोई अर्धजीवित वा अर्धमृत नहीं हो सकता; यद्यपि साधारण बोल चाल में हम इस प्रकार के प्रयोग किया ही करते हैं। एक ही वस्तु या तो जीवित ही होगी या मृतक ही।

मनुष्य का जीवन परमात्मा की दी हुई भेंट है। उस दानियों के दानी की भेंट, जिसने संसार को कल्याण दिया है, पूर्ण वा सिद्ध से न्यून कदापि नहीं हो सकती। किन्तु तुम कहते हो कि मेरा जीवन पूर्ण नहीं है, सिद्ध नहीं है। यदि जीवन से तुम्हारा अभिप्राय जीवन-व्यवहार से है तो तुम्हारा कहना सत्य हो सकता है। किन्तु स्वयं जीवन, तुम्हारी वास्त-

---

* क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा—गीता।

विकता तुम्हारा आत्मा, उसे चाहे किसी नाम से पुकारो, सिद्ध है, क्योंकि वह परमात्मा की साँस है।

तुमने एक दूषित दर्पण में अपना प्रतिविम्ब देखा। यदि तुम विश्वास कर लो कि मैं वैसा ही हूँ जैसा कि यह दर्पण बतलाता है, तो तुम्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि मेरा वदन भयंकर रूप से विकृत है। परन्तु तुम जानते हो कि वस्तुतः तुम उस प्रतिविम्ब के समान हो नहीं! यह तुम्हारे दर्पण का दोष है कि वह तुम्हें ठीक वैसे ही प्रतिविम्बित नहीं कर सकता जैसे तुम हो।

तुम्हारा व्यवहार एक दर्पण है जिसमें तुम अपने जीवन का प्रतिबिंब देखते हो। इससे तुम्हारी सिद्धि मालूम नहीं होती। किन्तु आख़िर यह तुम्हारा विकृत प्रतिबिम्ब ही तो है; तुम्हारा यथार्थ स्वरूप नहीं। कहा जाता है कि कोई भी मनुष्य अपने को अपने सर्वोत्तम रूप में दर्शित नहीं कर सकता; और यह यथार्थ है। व्यवहार आंतरिक आत्मा की अनुभूति को उतनी ही दिखला सकता है जितनी बाहर प्रकट है। किंतु यह अनुभूति अपूर्ण है, असिद्ध है, इस लिए प्रतिबिंब विकृत है। किसी मनुष्य का व्यवहार आज कल यह नहीं बतला सकता कि वह वास्तव में क्या है? किन्तु क़भी "मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः" सब मुनि इस दशा से परम सिद्धि को प्राप्त हुए। किन्तु शायद हमें अपनी अभी २ कही उक्ति को घटाना पड़ेगा। क्या महात्मा गाँधी इन्हीं मुनियों में से एक नहीं हैं? ज्वलन्त जीवित प्रमाण!

प्रत्येक जीव में सिद्धि के लिए उत्कट अभिलाषा है। 'सिद्धि!' आत्मा की यह अशाब्दिक पुकार है। यह पुकार अपने को बाहर कर्म में व्यक्त करने का प्रयत्न करती है। यह निरन्तर अतृप्त अभिलाषा आत्मा की दिव्यता को प्रदर्शित करती है। वह शरीर पर अधिकार जमाने के प्रयत्न पर तुली हुई है जब तक यह अधिकार प्राप्त नहीं हो लेता, तब तक सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती किंतु उसके प्राप्त हो जाने पर वह सिद्धि अवश्य ही मिल जायगी जो उसमें निसर्गतः है।

पारमात्मिक सार जो मेरे आत्मा का सत्त्वमय स्फुलिंग (चिनगारी) है, सिद्ध है, पूर्ण है। इसलिए स्वाभाविक ही जैसे जैसे मैं व्यवहार में सिद्धि के सन्निकट पहुँचता जाऊँगा वैसे वैसे परमात्मा का भाव भी मेरे निकट आता जायगा। परमात्मा स्वास्थ्य है। अस्तु यथा समय दर्पण के दोष मिट जायँगे और उनमें मेरा वास्तविक प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ेगा।

मेरा लक्ष्य सिद्धि है।

मैं संकल्प करता हूँ कि अपने बाह्य रूप को, व्यवहार को अपने आत्मा का ही अनुसारी बनाऊँगा और क्योंकि मेरा आत्मा पवित्र परमात्मा से प्रवाहित हो कर निकला है इस कारण वह सिद्ध है, पूर्ण है, और मेरा शरीर भी ऐसा ही होगा।

सातवाँ ध्यान

विचार-बल

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।

यदि मनुष्य में सिद्धि निहित है तो कोई कारण नहीं कि वह वास्तव में सिद्ध क्यों न हो। यदि उसके सामने सिद्धि का लक्ष्य रक्खा गया है तो यह अत्यन्त है कि वह उस लक्ष्य को अबेर या सबेर अवश्य प्राप्त होगा। कोई पूछे-कैसे? उत्तर प्रतिध्वनित होगा-'विचारों से।' क्योंकि जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसी ही सिद्धि मिलती है। इसी को बाइबिल में यों कहा है—मनुष्य अपने हृदय में जैसा विचार करता है वैसा ही वह है।

यह बात कितनी सत्य है! जिस भाव को ऋषियों ने प्राचीन काल में स्पष्ट देखा था अन्ततः आजकल के लोग उस को अनुभव करने लगे हैं। मनुष्य सदैव अपने विचारों से ।सित होता है। कार्य के पहले विचार होता है। इस विश्व में बिना विचार के न कोई बात कही गयी और न कोई काम किया गया!

समस्त विश्व और उसमें जो कुछ है, विचार का व्यक्त रूप है। कबीर ने संसारोत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा है-

'प्रथम सुरति समरथ किया घट में सहज उचार' सबसे पहले यही 'सुरति' होती है, यही विचार होता है। पहले दिव्यमनस में, 'समरथ-घट' में विचार, दूसरे उसका शब्द, 'उचार' और फिर उसकी पदार्थ-परिणति—यह विश्व-सृजन का क्रम बतलाया गया है। विचार सदैव पदार्थ में परिणत होता है। उसका यह स्वाभाविक परिणाम है। यद्यपि वह अपना काम बहुत चुपके चुपके करता रहता है और हमेशा उसकी पदार्थ परिणति शीघ्र ही दृष्टि-गोचर नहीं हो जाती।

मैं मनुष्य हूँ, मैं परमात्मा का व्यक्त विचार हूँ। और जिस प्रकार परमात्मा ने विचार और शब्द के द्वारा विश्व की रचना की है उसी प्रकार मैं भी उसी से उद्भूत होने के कारण अपनी सृष्टि का स्रष्टा हूँ। मैं अपने शरीर, परिस्थितियों और व्यवहार की रचना और पुनर्रचना करता हूँ। और यह सब करता हूँ मैं अपने विचारों के द्वारा।

विचार एक अदृश्य अपदार्थ नहीं है। बल्कि एक वास्तविक तत्त्व है। शायद वह एक सूक्ष्म-तम द्रव है। जब मैं अपने विचारों को कार्य में परिणत करता हूँ तो एक शक्ति को कार्य में लगा देता हूँ, जो कि केवल वास्तविक और तात्त्विक ही नहीं किन्तु अविरोध्य भी है। विचार के बल का कोई विरोध नहीं कर सकता। वह उन सब शस्त्रों में से बड़ा है जिन्हें परमात्मा ने मनुष्य के हाथ में दे रक्खा है। किन्तु हम बहुधा बुरे विचारों के शिकार हो जाने की शिकायत करते हैं।

अच्छे विचारों को मन में लाओ, बुरे विचार अपने आप नष्ट हो जायँगे। परन्तु अच्छे विचार अविनाशी होते हैं।

बुरे विचार अन्धकार के समान हैं। अच्छे विचारों की समता प्रकाश से की जा सकती है। प्रकाश को उपस्थित करो और अन्धकार स्वयं भाग जायगा। संभवतः तुमने अपने शरीर पर अपने विचारों के प्रभाव का कभी अध्ययन नहीं किया है। तुमने भले, बुरे और उदासीन विचारों को अपने मस्तिष्क में अवाध घुसने दिया है। वे अपनी इच्छानुसार वहाँ प्रवेश या वहाँ से निष्क्रमण करते रहे हैं और तुम्हारे मस्तिष्क पर भले या बुरे चिन्ह छोड़ गये हैं किन्तु तुमने इस बात की परवा नहीं की।

अब यह अच्छी तरह अवधारण कर लो कि तुम्हारे विचार पदार्थ में परिणत हो जाते हैं। और तुम्हारा वाह्यरूप तुम्हारे विचारों ही के तुल्य होता है। एक यौगिक कहावत है—जैसे ऊपर, वैसे नीचे; जैसे भीतर, वैसे बाहर। तुम्हारा आंतरिक रूप तुम्हारे विचार हैं, और तुम्हारा वाहरी रूप उन्हीं का प्रतिबिंब है। और जिन पर आँखें हैं, वे देख कर उन्हें पहचान सकते हैं।

"प्रकृति के नियमों का अनुसरण कर हम अपने को रोग वा दुःख की शक्ति से बाहर कर सकते हैं। और प्रकृति के नियम हैं, मंगल वा प्रेम के नियम। उचित विचार-सरिणी से हम ऐसा कर सकते हैं। उचित विचार से उचित कार्य होगा।

क्योंकि हमारे विचार ही हमारे कार्यों के कारण हैं। उचित विचार से ही उचित अनुभव शक्ति भी होती है। और उचित अनुभवशक्ति के माने हैं आरोग्य। उचित विचार-सरिणी से हम तमाम वर्तमान निर्वलताओं को भगा सकते हैं क्योंकि वे अनुचित विचार-शैली के ही परिणाम होते हैं। इस प्रकार हम दृढ़ हो सकते हैं, निर्वलकारी बाहरी प्रभावों की शक्ति के बाहर हो जा सकते हैं।"

"जब हम पवित्र, आरोग्यदायक और सत्त्वमय विचारों को सोचने लग जायँगे तो हमें अपने मन वा शरीर पर प्रभाव भी मालूम होने लग जायँगे। दर्द और पीड़ाएँ बंद हो जायँगी और हमारा मांस और हमारी नसें नये विचारों के अनुरूप ढल जायँगी। हमारे विचार वस्तु हैं। (Thoughts are things) वे अपने को मांस और रक्त में परिणत करते हैं। शरीर-विधान के क्रम में प्रत्येक पग, नसों में विचारों का प्रत्यक्षीकरण है। इस प्रकार शरीर मन का पूरा पूरा प्रतिरूप है। और मन पर पड़ने वाला प्रत्येक चिन्ह किसी न किसी रूप में उसके बाहरी प्रतिनिधि पर पड़े बिना नहीं रह सकता। शरीर मांस और रक्त में परिणत मन ही है।"

इससे जाना जा सकता है कि हमारे लिए अपने विचारों को वश करना कितना आवश्यक है। वे हमारे मानसिक पुत्र हैं, और पुत्रों की ही भाँति हमारे प्रेम-मय शासन और बुद्धि-मानी युक्त मार्ग प्रदर्शन की उनको आवश्यकता है। विचारों

के स्वागत के लिए हमारा मन सदैव खुला रहता है। परन्तु उनका स्थायी होना न होना हम पर निर्भर है जब हमें अनुभव हो आयगा कि बुरे विचारों से रोग की उत्पत्ति होती है और भले विचारों से आरोग्य की, तो हम कभी भी अनुचित, बुरे, अन्याययुक्त, अपवित्र वा दूषित विचारों को निकालने में देर न लगायेंगे। वे हमारे मन में बस उतनी ही देर तक रह सकेंगे जितनी उन्हें निकालने में लगेगी। और हम केवल शुद्ध विचारों से ही अशुद्ध विचारों को निकाल भगा सकते हैं।

मेरा संकल्प है कि मेरे समस्त विचार पवित्र, न्याययुक्त और शुद्ध होंगे, इसलिए अवश्य मैं मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को प्राप्त करूँगा और रक्खूँगा। 'जैसा जो सोचता है वैसा ही वह है भी'।

आठवाँ ध्यान

अस्वीकृतियाँ

ज्ञान के प्रकाश मात्र की देरी है, क्षोभ, चिंता, व्यथा, संताप, पीड़ा और रोग पास नहीं फटक सकेंगे। शुद्ध निमंत्रण भेजता है 'राम' खेद, भय, लोभ, काम आदिकों को; जरा मुँह तो दिखा जायँ।

स्वामी रामतीर्थ।

विध्वंसी ही सब सुधार आंदोलनों में नेतृत्व ग्रहण करता है। नवीन सृष्टि के पहिले संहार होना चाहिए। स्वाधीनता के पूर्व विद्रोही का दबदबा होता है; स्वाधीनता पाने के लिए पराधीनता का नाश करना होता है। रहने के अयोग्य मकान के पुनर्निर्माण के लिए पहले मकान को उजाड़ना पड़ता है। नवीन और उत्तर परिस्थितियों के विधान के लिए पुरानी परिस्थितियों का नाश कर देना होता है। पुराने और झूठे विश्वासों को नये और सत्यतर विश्वासों के लिए स्थान छोड़ना ही पड़ता है। यह क्रम अमिट है क्योंकि मनुष्य उन्नतिशील जीव है। वह उन्नति करते हुए सीखता जाता है और सीखते हुए उन्नति करता जाता है।

कुछ जातियों में मनुष्य की सत्ता और उसके भाव के विषय में एक अशुद्ध भाव प्रचलित हो गया था। वह आत्मा-युक्त दृश्य शरीर माना जाता था। और शरीर भी उसी प्रकार मनुष्य माना जाता था जैसे कि आत्मा। उन का विचार था कि मरने के बाद किसी दूर नियत तिथि पर जिसे पुनरुत्थान (Resurrection) कहा जाता है। मनुष्य शरीर फिर पुनरुज्जीवित हो उठेगा, उसका आत्मा उसमें प्रवेश करेगा और वह न्याय के लिए धर्मराज के सामने उपस्थित किया जायगा, जो उसे दंड अथवा पारितोषिक देगा; और तदनुसार वह अनंत रौरव पीड़ा पायेगा या स्वर्ग-सुख का उपभोग करेगा। जब हम अज्ञान की तंद्रा में सोये हुए थे इन विचारों की छाया हम पर भी पड़ने लगी थी, क्योंकि अपने उपनिषत् काल के ज्ञान को हम भूल गये थे। अब हमने फिर ज्ञान की अग्नि से अज्ञान का झोपड़ा फूँक डाला है। विध्वंसी ने अपना काम कर लिया है। मिथ्या विश्वासों का भवन उसने गिरा डाला है।

किन्तु विध्वंसी ने केवल विधायक के लिए रास्ता साफ़ किया है। विध्वंस हो चुका है, अब पुनर्विधान होना चाहिए। मनुष्य के विषय में पदार्थ भाव के मिथ्या विश्वासों के खंडहरों पर अब हम एक नवीन दिव्य भवन का निर्माण करते हैं। पुराने विश्वासों का सदा के लिए विध्वंस हो चुका है। हम जानते हैं कि मनुष्य आध्यात्मिक जीव है,

पदार्थमय नहीं। आत्मा पदार्थ की कृति नहीं है किन्तु पदार्थ के द्वारा कार्य करता है।

दूसरे शब्दों में मनुष्य सर्वशः आत्मा है। उसका शरीर केवल आत्मा की लक्ष्यपूर्ति का साधन है, मन का व्यक्त-रूप मात्र है। आज तक आत्मा, वास्तिविक मनुष्य गहरी नींद सो रहा था। अब वह जाग कर अपने यथार्थ पद पर प्रतिष्ठित हो रहा है, अपनी वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त कर रहा है, वह जान रहा है कि वह किस दशा में पड़ा हुआ था किन्तु यदि चाहे ता क्या हो सकता है। जाग कर उसने अनुभव कर लिया है कि उस पर शरीर का शासन जमा हुआ है। अब आत्मा शासन की बागडोर अपने हाथ में ले लेगा।

मेरा आत्मा, मेरा वास्तविक और आंतरिक स्वयं अमंगल की शक्ति को अस्वीकार करता है। नामधारी अमंगल की सत्ता नहीं है, उसका अस्तित्व नहीं है। वह केवल मंगल का अभाव है। दो अनन्तों का अस्तित्व नहीं हो सकता। यदि अमंगल का सत्ता रूप में अस्तित्व स्वीकार किया जाय तो मंगल का, शिव का, परमात्मा का एक प्रतिद्वंदी खड़ा हो जाता है जिससे परमात्मा अनन्त नहीं रह जाता। परन्तु हमारा परमात्मा की अनन्तता में विरोधिनी विश्वास है। इस लिए हम उसकी अनंत किसी भी नामधारी सत्ता को स्वीकार नहीं करते।

डाक्टर ओर्चर्ड कहते हैं कि साधारणतया मंगल और

अमंगल दोनों अन्योन्याश्रयी शब्द हैं और हमारे अनुभवरूपी एक ही ढाल के दो रँगे हुए पहलू है।

उनका विचार है, "अमंगल दृश्य के अनंत वास्तविकता से सम्बन्ध नहीं रखता, किंतु केवल दृश्य से, आंशिक आभास से, आंशिक रूप से उन्नत शक्तियों के द्वारा प्राप्त हमारे अनुभव—जगत से।..."

जिस श्रेणी तक हमारी शक्तियाँ विकसित होंगी, उसीके अनुसार हमें अनुभव होगा। मंगल के विषय में हमारा अनुभव आंशिक है। प्रत्येक अनुभव नवीन अनुभव के लिए स्थान छोड़ता है। बिना अमंगल की कल्पना किये हम मंगल का चिंतन नहीं कर सकते। बिना विरोधी वस्तु के विषय में विचार किये हम किसी वस्तु का विचार ही नहीं कर सकते। हमारी सारी चैतन्यता विरोधों पर आश्रित है। किन्तु सत्य अमंगल का विरोधरूप मंगल नहीं है। सत्य का कोई विरोधी नहीं। जिस सर्वोत्तम वस्तु की हम कल्पना कर सकते हैं सत्य उससे भी परे है।" वह परात्पर है।

"......हमारी सहज विवेक शक्ति कहती है कि मङ्गल ही अंतिम सत्य की ओर संकेत करता है, अमंगल नहीं। इसी मार्ग से समस्त रहस्यों का उद्घाटन हो सकता है और इसी मार्ग से उन्नतिशील विचार के लक्ष्य को भी पहुँचा जा सकता है।"

अब यदि अमंगल रोग शोक आदि किसी भी रूप में वास्तविक नहीं तो उसकी शक्ति ही कैसी? अवास्तविकता की शक्ति

हो ही नहीं सकती। अंधकार अवास्तविक है। यदि तुम किसी पौधे को अंधकार में रक्खो तो वह मुरझाता है, उसकी पत्तियाँ पीली पड़ जाती हैं और अंततः वह मर ही जाता है। यह क्यों? क्या अंधकार के प्रभाव से? नहीं बिल्कुल नहीं। किन्तु प्रकाश के अभाव के कारण। केवल इस कारण कि उसे वह वस्तु नहीं मिलती जो उसके जीवन के लिए आवश्यक है। उसे सूर्य-प्रकाश नहीं मिलता। पौधे को दिन के प्रकाश में लाओ; यदि पौधा अब तक मर न गया हो तो वह अवश्य उज्जीवित हो जायगा।

यदि हम प्रकाश के अभाव अन्धकार की शक्ति को, उसकी अवास्तविकता के कारण अस्वीकार करना ठीक है तो अवश्य ही आरोग्य के अभाव रोग की शक्ति को उसकी अवास्तविकता के कारण अस्वीकार करना भी उसी प्रकार ठीक है। यदि हम रोग को वास्तविक स्वीकार कर लें तो हम अपने ऊपर उसकी शक्ति को भी स्वीकार करते हैं। इससे यह सिद्ध है कि हम उससे डरते हैं। फलतः वह हमारे ऊपर अधिकार कर लेगा और हम अस्वस्थ या रुग्ण हो जायँगे। परन्तु यदि हम अमंगल की, रोग की वास्तविकता अस्वीकार कर दें और उसकी शक्ति को न मानें तो हमारे ऊपर उसकी शक्ति रही न जायगी, रोग भाग जायगा।

मेरा आत्मा, मेरा वास्तविक जीवन, मेरा आंतरिक स्वयं किसी भी रूप में अमंगल की शक्ति को स्वीकार नहीं करता।

क्योंकि उसकी सत्ता नहीं इसलिए उसकी शक्ति भी नहीं हो सकती।

मैं अपने ऊपर बुराई की शक्ति को हृदय से और ज़ोर से अस्वीकार करता हूँ।

मैं बुरा नहीं हूँ—

मैं अस्वीकार करता हूँ कि मैं रोगी हूँ।

मैं रोगी नहीं हूं।

मैं अस्वीकार करता हूँ कि मैं कमजोर हूँ।

मैं कमजोर नहीं हूं

मैं अस्वीकार करता हूँ कि अमङ्गल का मेरे ऊपर शासन है।

मेरे ऊपर अमंगल का किसी भी रूप में अधिकार नहीं है।

तुम परब्रह्म के पुत्र हो इस लिए तुम्हारे भीतर पहले ही से स्वास्थ्य, बल, सौंदर्य, सज्जनता, पावित्र्य आदि भरे हैं। तुम्हारी सत्ता में उनकी सत्ता है। परमात्मा के ये सब गुण तुममें उसी प्रकार विद्यमान हैं जिस प्रकार सारा समुद्र एक जल कण में। ये गुण तुम्हारे अन्तर्स्थित परमात्मा के लक्षण हैं। और अपने विचार-बल से तुम उनका उपयोग कर सकते हो।

"तुम जो कुछ सोचते हो वही हो"।

"Truth crushed to earth shall rise again,
The eternal years of God are hers."

सत्य को रौंध डालो, वह फिर उठ जायगा, क्योंकि वह अविनाशी है।

नवाँ ध्यान

स्वीकृतियां

प्रत्येक व्यक्ति के पीछे अनन्त शक्ति विद्यमान है—विवेकानन्द

जब तक उजाड़े गये मकान की तमाम ईंटें और अन्य बेकाम चीजें हटा नहीं दी जातीं तब तक उसके स्थान पर नया मकान खड़ा नहीं किया जा सकता। पिछले पाठ में हमने अमङ्गल के सत्ता-रूप अस्तित्व को अस्वीकार किया है, किन्तु अमङ्गल का अस्वीकार करना ही पर्याप्त नहीं। अस्वीकार करना विनाश करना है और इसी लिए हमने विध्वंसी के, विद्रोही के कामों से उसकी समता की है। जब हम रोग की अपने निकट आनेकी सामर्थ्य को अस्वीकार करते हैं तो हम उसकी शक्ति को छीन लेते हैं। जब हम अमंगल की शक्ति को अस्वीकार करते हैं तो हम मिथ्या विश्वासों का निराकरण करते हैं। अपने इस नवीन रूप का ज्ञान प्राप्त कर हम यह दिखाते हैं कि हमने मिथ्या विश्वासों के स्थान पर सत्य को विठला दिया है, अवास्तविकता को पद-च्युत कर वास्तविकता को सिंहासनाधिरूढ़ किया है।

यह क्षण हमारे पुनर्जन्म का क्षण है। और यहीं से पुनर्विधान के क्रम का आरंभ होता है। अस्वीकृतियाँ विनाशक

हैं और स्वीकृतियां विधायक। रोग की शक्ति को अस्वीकार कर हम रोग के लिए द्वार बंद करते हैं; मंगल में सन्निहित सारी वास्तविकता को स्वीकार कर हम मङ्गल के सभी रूपों के लिए द्वार खोलते हैं। मङ्गल और अमङ्गल एक ही समय प्रवेश नहीं कर सकते।

सातवें ध्यान का व्यावहारिक प्रतिफल इसी में हैं। हमारे 'विचार वस्तु हैं', अमङ्गल को नाश करने के लिए शस्त्र हैं, मङ्गल की अभिवृद्धि के उपादान हैं। नहीं, हमें नामधारी अमङ्गल के लिए चिंता ही न करनी चाहिए। मङ्गल के प्रत्यक्षीकरण मात्र से ही अमङ्गल पास न फटकने पावेगा।

हम सदैव मङ्गल को ही प्रतयक्ष क्यों नहीं देख सकते। अधिकांश लोगों को तो अमङ्गल के चिन्तन का ही शौक होता है।

गली में तुम्हें एक आदमी मिलता है और कहता है, "ओः तुम कितने पीले पड़ गये!" दूसरा कहता है, "तुम बीमार से मालूम पड़ते हो।" तीसरा प्रश्न कर बैठता है, "क्या तुम बीमार हो?" चौथा पूछता है, "क्या डाक्टर के पास से आ रहे हो?" और अंतिम, सब के भावों का निचोड़ करके तुम्हें हार्दिक सलाह देता है कि "घर जाकर कोई दवा अवश्य खा लो"

घर से जब तुम चले थे तो तुम्हारा चेहरा शायद और दिनों की अपेक्षा थोड़ा सा फीका था किन्तु इसके बाद तुम वस्तुतः बीमार होकर लौटते हो और बिछौने की शरण पक-

ड़ते हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है? सदय मित्र बहुधा रोगियों के लिए इस प्रकार का रुग्ण वातावरण उपस्थित कर देते हैं कि वे रोग और मृत्यु के भय से मर जाते हैं। किन्तु संभवतः इससे विरुद्ध भावनाएँ रोग और मृत्यु को भगा डालतीं।

मेरे मित्र यदि तुम बीमार भी हो तो भी उसे स्वीकार न करो। सोचो कि तुम बीमार नहीं हो; अच्छे हो। तुम्हारा वास्तविक स्वयं नीरोग के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह अन्तःस्थित परमात्मा है। तुम्हें केवल अंतःस्थित परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव करना है, उसके आरोग्य का ज्ञान प्राप्त करना है और तुम्हारे बाह्य रूप पर, शरीर पर वह शीघ्र ही प्रत्यक्ष हो जायगा। यदि तुम्हारे मित्रों और जान पहचान के लोगों ने तुम्हें पीला वा बीमार बतलाने के बदले यह कहा होता कि तुम बलिष्ठ और नीरोग दिखायी देते हो, तो तुम्हारी अस्थायी बीमारी भाग जाती और तुम वस्तुतः बीमार होकर घर न लौटते।

किसी मनुष्य से कभी भी यह न कहो कि तुम्हारा चेहरा उतरा हुआ सा मालूम देता है, कि कुछ न कुछ खराबी अवश्य है, कि तुम्हें अपने स्वाथ्य की चिन्ता करनी चाहिए अन्यथा बीमार पड़ जाओगे। यदि तुम उसे मार ही डालना चाहो तो बात दूसरी है। ऐसी दशा में तुम उससे जितनी बार हो सके कहे चले जाओ कि 'तुम बीमार से मालूम देते हो'।

और हर एक से भी यही कहलाओ। निश्चय वह बीमार पड़ जायगा और शायद मर भी जायगा और तुम हत्याकारी बन जाओगे।

सारे चिकित्सा शास्त्र में एक साधारण स्वीकृति की शतांश बलशालिनी भी कोई दवा नहीं है। अनजान में की हुई स्वीकृति बिना प्रभाव किये नहीं रहती, किन्तु एक ज्ञानवान् पुरुष के द्वारा जान कर की गयी स्वीकृति अविरोध्य है। अपनी चिकित्सा अपने आप करने में यह बात होती है। जब दूसरा अपने को बीमार ही बतलाता जावे तब उसे नीरोग कहना साहस का काम है और एक ईंट की दीवाल पर सिर पटकने के समान है क्योंकि उसमें दूसरे के मिथ्या विश्वास के साथ युद्ध करना होता है।

परन्तु ये ध्यान उन लोगों के व्यक्तिगत उपयोग के लिए बनाये गये हैं जो स्वयं नीरोग होना चाहते हैं और आरोग्य की रक्षा करने के इच्छुक हैं। इस लिए मैं फिर दुहराता हूँ कि एक साधारण स्वीकृति दवाओं के एक खेप की खेपसे भी अधिक उपयोगी है। क्योंकिः—

भावितं तीव्रसंवेगादात्मना यत्तदेव सः
भवत्याशु महाबाहो ! विगतेतर संस्मृतिः।

—योगवाशिष्ठ।

बड़ी पैनी इच्छा से जो कोई स्वयं किसी भावना को मन में लाता है वह अन्य (रूपों की) स्मृति को भूल कर शीघ्र

उस ही रूप को पाता है। अतएव यदि तुम भावना करोगे कि मैं बीमार हूँ, तो अवश्य बीमार हो जाओगे। परन्तु तुम अपने आरोग्य की भावना भी कर सकते हो और नीरोग हो सकते हो और यदि तुमने पिछले ध्यानों को अपने हृदय में कर लिया है तो तुम जानते हो कि क्यों ऐसा होता है। मैं जैसी भावना करता हूँ वैसा ही हूँ। विचार के आश्चर्यजनक बल से मैं अपने शरीर का पुनर्निमाण करता हूँ।

इस लिए मैं स्वीकार करता हूँ कि सब कुछ मंगल है।

मैं मंगल के स्थायित्व और अविनाशित्व को स्वीकार करता हूँ। मंगल ही एक मात्र वास्तविकता है।

मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं नीरोग हूं।

मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं रोग-मुक्त हूं।

मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं परमात्मा का पुत्र हूँ और इस लिए मैं दिव्य प्रकृति का सहभागी हूँ।

मैं अनन्त जीवन हूं। सैवाहं। ॐ!

मेरा व्यक्तरूप, मेरा शरीर मेरे अधीन है और मैं अभी यहाँ पर उसे स्वस्थ और बलिष्ठ होने की आज्ञा देता हूँ। ये प्रणव शब्द हैं; अमंगल का कोई भी कल्पित प्रतिरूप इनका विरोध नहीं कर सकता।

दसवाँ ध्यान

प्रेम और भय

सबै रसायन मैं किया, प्रेम समान न कोय;
रति इक तन में संचरै सब तन कञ्चन होय ॥—कबीर।

प्रेम ही जीवन और भय ही मृत्यु है—स्वामी विवेकानन्द।

अब हम स्वास्थ्य-सोपान की दसवीं सीढ़ी पर पहुँच गये हैं और विचार के जिस राज्य में हम आरंभ में थे उससे कहीं उन्नत राज्य में पहुँच गये हैं। मेरा विश्वास है कि हम मिथ्याविश्वासों के प्रदेश से सर्वथा बाहर हो गये हैं और अब हमने सत्य के विशुद्ध वातावरण में प्रवेश कर लिया है। यह है आध्यात्मिक राज्य। जितना ही आगे हम इस आध्यात्मिक राज्य के भीतर प्रवेश करेंगे बाहरी और दृश्य वस्तुओं के विषय में उतने ही हमारे विचार स्पष्ट होते चले जायँगे।

अब तक हम जितने पग चले हैं, उनमें हम स्वयं से बहुत दूर नहीं गये हैं क्योंकि हमारा आशय था कि हम पहले यह जान जायँ कि हम वस्तुतः क्या हैं। प्रचलित विचार सत्य के विरुद्ध थे। यह दसवाँ ध्यान अब हमें आध्यात्मिक राज्य में प्रवेश करने और वहाँ रहने के लाभ बतायेगा। पदार्थवादी के विचार जब तक पदार्थवाद मूलक रहेंगे तब तक

वह पृथ्वी से ही बँधा रहेगा। यह आवश्यक है कि उसका यह अनुभव हो क्योंकि वह अपनी आध्यात्मिकता को अस्वीकार करता है और पादार्थिकता को स्वीकार करता है। वह उस मनुष्य के समान है जो हिमाच्छादित पर्वतशृंग पर चढ़ते हुए एक पग आगे को बढ़ाता है किन्तु दो पग पीछे फिसल जाता है। वह यह निर्मूल आशा कर सकता है कि वह पर्वत शिखर पर पहुँच जायगा परन्तु इस रीति से वह वहाँ कदापि नहीं पहुँच सकता। दूसरी ओर आध्यात्मिक मनुष्य अपनी दिव्यता का अनुभव करता है। वह एक देवता नहीं है, कम मात्रा में परमात्म देव है। वह उस परम देव का व्यक्त रूप है, वाह्य रूप है, उसका एक प्रवाह है सर्व शक्ति का पुत्र होने के कारण सब शक्ति उसमें निहित है।

परन्तु इस शक्ति से काम ले सकने के पूर्व आध्यात्मिक आदर्श के सम्मुख सारे पदार्थवाद को जिसे पदार्थवादी ने अपना लक्ष्य बना रक्खा है, लोप हो जाना चाहिए। कहो—अनुभव करो—'जगन्मिथ्या' जगत् को, मांस के लोथड़े को, और शैतान को अस्वीकार कर दो। उनको वास्तविक वा सत्तारूप शक्ति मानने से इन्कार कर दो। मत सोचो कि मांस के लोथड़े की वासनाओं से तुम आकृष्ट होते हो। अमंगल का कोई भी रूप या उनका समूह तुम पर प्रभाव नहीं डाल सकता, यह तुम जानते ही हो। जब तुम आध्यात्मिक राज्य में अच्छी तरह से प्रतिष्ठित हो जाओगे तब तुम 'ब्रह्मसत्यं'

कह सकोगे, अपने में उसके दिव्य गुणों को देख सकोगे। तब अपने को प्रेममय पाओगे।

कबीर ने कहा है मैंने समस्त रासायनिक द्रव्यों को जाँच कर देखा है परन्तु किसी को प्रेम के समान नहीं पाया। एक रत्ती प्रेम अगर संचरित हो जाय तो सारा शरीर सोने का हो जाय, कांत हो जाय, दिव्य हो जाय। क्या तुम नहीं चाहते कि तुम्हारा शरीर काला लोथड़ा बनकर तुम्हारे आंतरिक आत्मा के तेज को न छिपाता रहे प्रत्युत तुम्हारे सत्य स्वयं के समान ही कांत या दिव्य रूप हो जाय? शायद इसके लिए तुम सब कुछ करने के लिए तत्पर हो जाओगे।

किन्तु प्रेम का लक्षण क्या है। किसी समय जब अन्धकार का युग था परमात्मा एक ऐसी वस्तु मानां जाता था जिससे डरना चाहिए। उसे प्रसन्न करने के लिए बलिदान करनां, उसी के जीवों का रक्त बहाना आवश्यक समझा जाता था। लोग परमात्मा से डरते थे कि यदि उसे इस तरह प्रसन्न न करेंगे तो वह हमारा नाश कर देगा। किन्तु यह विचार अंधकार का विम्ब था। अज्ञानियों का दृष्टिकोण था।

परमोत्मा से हमारा संबंध भयानक और भीत का नहीं है सरल-हृदय ऋषियों का अंतस्तल ऋचा—रूप में इस प्रकार उमड़ कर वह चलता था—'त्वं हि नः पिता वसो! त्वं माता शतक्रतो! बभूविथ'। हे परमोत्मान्, तुमही हमारे पिता हो, तुम ही माता हो। माता-पिता बच्चे के लिए डर की सामग्री

नहीं हुआ करते हैं और न एक बच्चे के रक्त से दूसरा बच्चा उन्हें प्रसन्न ही कर सकता है। माता पिता का काम बच्चे को डराना नहीं, उसे प्यार करना है। पिता के शासन में कुछ दृढ़ता का आभास देख पड़ सकता है, परंतु जिसने माता का लाड़ पाया है वह जानता है कि उसका हृदय एक दम तरल होता है, वह प्रेम की प्रतिमूर्ति ही नहीं, साक्षात् प्रेम है। परमात्मा एक ही साथ पिता और माता दोनों है। वह हमारा शुद्ध-शाश्वत प्रेमी है। वह स्वयं प्रेम है। योहन को ईसाई प्रेम का अवतार मानते हैं। उसने परमात्मा के सत्य रूप का साक्षात्कार किया है। वह कहता है कि परमात्मा प्रेम है। स्वामी विवेकानन्द का भी अनुभव था कि "प्रेम सर्वशक्तिमान है।"

निस्संदेह परमात्मा स्वास्थ्य है। अब यदि परमात्मा प्रेम भी है तो प्रेम और स्वास्थ्य को एक होना चाहिए। इससे यह अभिप्रेत नहीं कि शारीरिक स्वास्थ्य के बिना हम प्रेम नहीं कर सकते। जो लोग रुग्णावस्था में या अन्य पीड़ाओं को सहते हुए धैर्य, सहनशीलता, दुश्चिन्ता-विमुक्तता दिखला सकते हैं उनका आत्मिक स्वास्थ्य बढ़ा चढ़ा होता है और उनका बाहरी या शारीरिक स्वास्थ्य शीघ्र सुधर सकता है; यदि शरीर से अभिप्रेत अर्थ सिद्ध हो चुका हो तो बात ही दूसरी है। चिड़चिड़े स्वभाव के मनुष्य, बहुधा निर्बल तथा रुग्ण रहा करते हैं। यह क्यों? इसलिए नहीं कि उनमें चिड़चिड़ापन है या वे डरते हैं, किन्तु इसलिए कि उनमें प्रेम का अभाव है।

सब गुणों का उद्गम परमात्मा है। और जब तक मनुष्य इन गुणों को जीवन या व्यवहार में प्रकट नहीं करता तब तक वह स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। जब तक मनुष्य डरता रहता है, उसमें प्रेम का अभाव रहता है वह स्वस्थ कैसे हो सकता है। भय मन की एक ऐसी दशा है कि यदि उसे बढ़ने दिया जायगा तो वह उस मनुष्य का जीवन असंभव बना देगा जो उसके अधिकार में रहेगा। भय, शायद घृणा को छोड़ कर तुम्हारा सब से बड़ा शत्रु है। जो कुछ भी हो, भय और घृणा एक दूसरे के बड़े योग्य साथी हैं किन्तु तुम्हारे योग्य नहीं।

भय का शरीर पर बड़ा विध्वंसकारी और विनाशकारी प्रभाव पड़ता है। यदि तुम किसी रोग से डरोगे तो अवश्य उसके शिकार हो जाओगे; यदि तुम वायु के झपाटे में बैठे हो और डरते हो कि न हो सर्दी लग जाय तो तुम्हें अवश्य सर्दी लग जायगी; यदि तुम डर रहे हो कि शायद तुम बीमार होने वाले हो तो तुम अवश्य बीमार हो जाओगे। मैंने एक स्त्री को कहते सुना; "मुझे विश्वास है कि मैं बीमार पड़ जाऊँगी" और वह सचमुच बीमार पड़ गयी। यदि तुम्हें भय है कि तुम मर जाओगे; तो तुम अवश्य मर जाओगे। इस विषय में संदेह ही नहीं है।

युद्ध के दिनों कई लोग जो रणभूमि के निकट भी नहीं जाते भय मात्र से मर जाते हैं। यदि कोई भूचाल या अन्य प्राकृतिक

आपत्तियाँ किसी जिले पर आ पड़ती हैं तो लोग डर के मारे मरकर गिरते हुए देखे जाते हैं। प्लेग सरीखी महामारियों में कितने ही लोग देखे मर जाते हैं जिन्हें प्लेग छूता तक नहीं।

जैसे विद्युतका प्रवाह, या वायु या भाप एक शक्ति है वैसे ही विचार भी एक शक्ति है। उसे जिस रीति से काम में लगाओगे वैसाही परिणाम भी मिलेगा। यदि तुम भय की भावना करोगे तो भयान्वित हो जाओगे। और भयान्वित होना रोग के साथ युद्ध करते समय मन की सब से निकृष्ट अवस्था है। यदि तुम स्वस्थ होना चाहते तो भय को समूल विनष्ट कर दो। यदि तुम उसका नाश न करोगे तो उसका ही आधिपत्य हो जायगा और प्रेम क्षुण्ण हो जायगा। क्योंकि उन दोनों के लिए मनुष्य के आत्मा में स्थान नहीं है।

मैं भय का नाश कैसे कर सकता हूँ ? प्रेम का अपने भीतर प्रवेश करने से। उसके लिए युद्ध का साजवाज पहन कर लड़ाई के मैदान में भीम-कर्म करने की आवश्यकता नहीं है। केवल प्रेम का अपने अंदर प्रवेश करो और काम बन गया। अंधकार और प्रकाश वाले हमारे प्रिय रूपक का यहाँ भी प्रयोग किया जा सकता है। भय आत्मा में अंधकार रूप है। उसकी सहचारिणी घृणा भी उसी कोटि में है। परमात्मा के स्वयं प्रकाश प्रेम का वहाँ प्रवेश करो भय अपने अनुचरों सहित बोरा बँधना लेकर अपने आप पलायन करते नज़र आयगा।

मोहन कहता है 'प्रेम में भय कहाँ था ?' पूर्ण प्रेम भय को निकाल फेंकता है।

प्रेम परब्रह्म का एक अनंत और अविनाशी सिद्धांत है। उसी की धुरी पर सारे लोक चक्कर काट रहे हैं। वह आकर्षण शक्ति की भाँति काम करता है। यही आकर्षण शक्ति तमाम विश्व पर शासन करने वाली शक्ति है। उसके बिना समस्त नियमित क्रम (Cosmos) टूट जाता और अनियमितता (Chaos) का राज्य हो जाता है। परमात्मा का प्रेम नक्षत्रों को अपने पथ पर प्रवृत्त करता है; सौर मंडल के स्थायित्व का उत्तरदायित्व भी उसी पर है। यह दिव्य सार—प्रेम प्रवाहित होकर सूर्य लोक में जाता है और वहाँ ताप और प्रकाश उत्पन्न करता है जो वहाँ से प्रकाशदायिनी तथा संजीवनी किरणों के रूप में समस्त पृथ्वी पर विकीर्ण होते हैं।

परब्रह्म ने प्रेम और इच्छा की शक्तियों का योग किया और मनुष्य पैदा हो गया। मनुष्य इसी दिव्य गुण के कर्तृत्व से 'सिद्ध' हो सकता है। प्रेम दिव्य विधायक है। यदि प्रेम मेरे समस्त शरीर में व्याप्त हो जाय तो भिन्न २ निर्मायक अणु एक दूसरे की ओर आकर्षित होते रहें और मैं स्वास्थ्य की रक्षा कर सकूँ। मेरी सब भावनाएँ मेरे शरीर में प्रतिबिंबित होती हैं और प्रेम विचार का सर्वोत्कृष्ट निर्मायक और विधायक रूप है। संक्षेप में, भय विग्रह करता है और प्रेम

निग्रह करता है। भय विनाश करता है और प्रेम पुनर्निर्माण करता है। भय एक बाधा है और प्रेम सब बाधाओं को दूर करने वाला है।

मेरे लिए कोई भी वस्तु भयभीत होने का कारण नहीं है।

मैं संकल्प करता हूँ कि प्रेम न कि भय, मेरा शासकोद्देश्य होगा। इस प्रकार मैं सिद्धि प्राप्त करूँगा।

ग्यारहवाँ ध्यान

आत्म संयम

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्—गीता

शक्तिवान निरमर्ष है, नाहिंन बाहु विशाल;
अपनो सासन जो करत सो साँचो भूपाल।—सौलोमन सूक्ति

निस्संदेह यदि केवल स्वास्थ्य और बल की ही प्राप्ति के लिए नहीं किंतु मनुष्य जाति की रक्षा के लिए भी कोई वस्तु सबसे अधिक आवश्यक है तो वह आत्म-संयम है। फिर भी कितना आश्चर्य है कि यह एक ऐसा गुण है जिसका करोड़ों स्त्री पुरुषों में अभाव है।

हम बहुधा मनुष्य के विषय में सुना करते हैं कि वह औरों का नहीं किंतु स्वयं अपना शत्रु है। एक राजा के विषय में कहा जाता है कि वह एक राज्य पर शासन करता था किंतु स्वयं अपने को वश में न रख सकता था। एक दूसर आदमी का वर्णन किया जाता है कि उसका स्वभाव वश में नहीं किया जा सकता। एक और दूसरे के विषय में कहा जाता है कि वह बहुत ही हीन कारण से वा अकारण ही आपे से बाहर हो जाता था।

मैं एक स्त्री को जानता हूँ जो या तो आनन्द के सातवें स्वर्ग में रहती है या विषाद की गहनता ही में डूबी रहती है। वह या तो बहुत ही प्रसन्न रहती है या बहुत ही अप्रसन्न; या तो अत्यन्त क्रुद्ध रहती है या अत्यधिक प्रिय: या असाधारण उल्लास में निमग्न रहती है या सर्वथा दुःखी। वह मध्यम मार्ग कभी ग्रहण नहीं करती। उसके लचीले स्वभाव के अंत परस्पर मिल जाते हैं उसमें विवेक बुद्धि का अभाव है। वह अपनी भावनाओं पर बहुत कम अधिकार रखती है या कहना चाहिए कि अधिकार रखती ही नहीं।

सबसे पहली बात जो एक बालक सीखता है वह आत्म-संयम है। वह अँगीठी पर एक जलता हुआ कोयला देखता है उसकी चमक से आकृष्ट हो कर वह उसे हाथ से उठा लेता है। परिणाम वेदना-पूर्ण होता है। अब वह फिर जलते हुए कोयले को नहीं छूता। उसने उस विषय में अपना पाठ पढ़ लिया है यद्यपि उसका अध्यापक वेदना है। परंतु प्रत्यक्षतः मनुष्य-जाति बहुत से वेदनाजनक पाठों को पढ़ लेने के बाद आत्म-संयम सीख सकी है और इस गुण के सार्वभौम अभ्यास के पूर्व बहुत से पीड़ाप्रद पाठ आवश्यक होंगे।

आत्म संयम है क्या? मानसिक सम-स्थिति का नाम ही आत्म-संयम है। मनुष्य की हम तराजू से समता कर सकते हैं। जिसके दोनों पलड़े समान वज़न के हों। जब एक पलड़ा भारी हो जाता है और दूसरा हलका ही रहता है तो समस्थिति

में गड़बड़ हो जाती है। जब मनुष्य की मानसिक दशा में व्यतिक्रम पड़ जाता है तो वह अपनी समबुद्धि को खो डालता है और उसी हद तक उसका आत्म-संयम भी जाता रहता है।

मेरा यह अभिप्राय नहीं कि हमें किसी भी दशा में अपनी भावनाओं को व्यक्त नहीं करना चाहिए। समय होता है जब कि घोड़े को हाँकने में लगाम ढीली कर देना उचित होता है और उसे स्वेच्छा से जाने दिया जाता है किंतु लगाम को पूरी तौर से छोड़ कर घोड़े को सर्वथा स्वच्छंद एक मूर्ख ही कर सकता है। शीघ्र ही वह लोहे को दाँतों के बीच लाकर पछाड़ मारने लगेगा। और संभवतः घोड़े से सभी संबंध रखने वालों को हानि पहुँचेगी।

इसी प्रकार ऐसे भी समय हैं जब तुम्हारा क्रोध करना न्याय संगत हो सकता है। जब तक तुम पर किया गया अन्याय अनिवारित रहता है, जब तक तुम्हारे प्रति किया गया अपराध अप्रतिषेधित रहता है तभी तक तुम्हें इस प्रकार के भावोद्वेग प्रदर्शन का कारण वा बहाना है, उससे बाद नहीं।

दूसरे प्रकार की भवनाएँ, यथा प्रेम, बड़ों के समान होने की इच्छा, संतोष और आनद निदर्शन सदैव क्षम्य हैं। किंतु तुम्हारी भावनाएँ किसी भी प्रकार की हों, उन्हें अपने वश में रक्खो। तुम लगाम को ढीली कर सकते हो परंतु उन्हें छोड़ना उचित नहीं है। और तुम्हारी भावनाओं के पछाड़ मारने के

थोड़े से चिन्ह दिखलाने पर भी तुम्हें लगाम को दृढ़ता से खींचने के लिये तय्यार रहना चाहिए।

"वह जिसे क्रोध नहीं आता यथार्थ शक्तिवान है वह नहीं जिसकी बड़ी २ भुजाएँ होती हैं।" वह जो शीघ्र क्रोध के वशीभूत होता है सर्वथा आत्म-संयम हीन है और नैतिक शक्ति से हीन है। देश पर राज्य करने वाला राजा राजा नहीं, "सच्चा राजा वह है जो अपने ऊपर राज्य करता है" जो अपने ऊपर शासन नहीं कर सकता, वह और किसी वस्तु पर भी शासन नहीं कर सकता और यदि वह इसमें प्रयत्न करेगा तो सर्वथा असफल रहेगा।

यदि इस विश्व पर परब्रह्म शासन नहीं करता तो वर्तमान नियमितता में अनियमितता (Chaos) आ जाती। यदि तुम अपने जगत् पर शासन नहीं कर सकते तो तुममें मनुष्यत्व की मात्रा आवश्यक से कम है। जितना आवश्यक जीवन के लिए आहार है उतना ही आवश्यक स्वास्थ्य के लिए आत्म-संयम है। बिना आहार के शरीर मर जाता है; और बिना आत्म-संयम के शरीर इतना निर्बल हो जाता है कि पृथ्वी पर के तमाम रोग उस पर आक्रमण कर सकते हैं। शरीर की प्रकृति एक बिगड़े बालक की तरह है जिसे यदि उपयुक्त शासन में न रक्खा जायगा तो शीघ्र नटखटपन करने लगेगा। इसी तरह, यदि मेरा आत्मा मेरे शरीर को वश में न रक्खेगा तो वह उस

घोड़े के समान बिगड़ खड़ा होगा जिसने लोहे को दाँतो के बीच दबा डाला है और परिणाम में दुःख होगा।

अब यहाँ पर हमारे सामने एक बड़ा महत्व का सत्य उपस्थित होता है जो कड़ो से कड़ी जाँच, अग्नि की कड़ी से कड़ी आँच के सामने भी ठहर सकेगा। उसे पूरी तरह से समझने के लिए बड़े गहन विचार की आवश्यकता है। वह सत्य यह है—सब भावनाएँ चाहे उनकी कोई भी प्रकृति हो शरीर पर वास्तविक प्रभाव डालते हैं। मैं इसे एक महत्वपूर्ण सत्य कहता हूँ। इसका वैज्ञानिक प्रदर्शन किया जा चुका है और किया जा सकता है।

भावनाएँ भिन्न भिन्न प्रकृति की होती हैं। हम उन्हें भली और बुरी दो कोटियों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम कोटि में विश्वास, प्रेम, आनंद, शांति, धैर्य, आशा, दया स्नेह, सहृदयता, पवित्रता और साहस रक्खे जा सकते हैं। यदि हममें ये गुण हैं और हम इन्हें काम में लाते हैं तो हमें मालूम होगा कि वे शरीर के विधान में और उसे स्वस्थ और बलिष्ठ बनाने में सहायक होते हैं।

दूसरी कोटि में घृणा, दुःख, बेचैनी, अधीरता, क्रोध, निष्ठुरता, अपावित्र्य, कादरता और निराशा हैं। मनुष्य में इनमें से एक या अधिक हेय दुर्गुणों का होना शरीर के अणुओं को वियुक्त करने, कोष्ठों का नाश करने, स्वास्थ्य का ध्वंस करने और असामयिक बुढ़ापा लाने के लिए काफ़ी

है। क्रोध का प्रत्येक उद्रेक आयु को घटाता और रोग को लाता है। धैर्य या प्रेम का प्रत्येक कार्य आयु को बढ़ाता है और शरीर को अधिक स्वस्थ और बलिष्ठ बनाता है।

अपने रोगी को प्रसन्नता की भावना देने की आवश्यकता का प्रत्येक चिकित्सक अनुभव करता है। एक बार रोगी ने अच्छा होने की आशा छोड़ी कि अच्छा होना असंभव सा हो जाता है, वर्तमान सभी औषधों में आशा सब से जबर्दस्त औषध है। उसके बिना हर कोई सहस्रों वर्ष पूर्व मर गया होता। प्रेम केवल मानसिक विग्रह का ही नहीं, शारीरिक रोग का भी अच्छा वैद्य है। विश्वास, धैर्य और आनन्द के विषय में भी यही कहा जा सकता है।

वस्तुतः रोगाक्रांत दशा में वा जब बड़ी पीड़ा हो रही हो धैर्य, शांति और आनन्द का अनुभव करना कठिन होता है। मैं स्वयं अपने अनुभव और दूसरों के अनुभव से भी जानता हूँ कि यथोचित स्वास्थ्य की दशा की अपेक्षा शारीरिक निर्बलता वा रोग की अवस्था में मानसिक और आध्यात्मिक बल उत्पन्न करना कहीं अधिक कठिन होता है। और कभी तो असंभव ही दीखता है। फिर भी इन्हीं मौकों पर जब प्रत्येक वस्तु तुम्हें छोड़ कर जाती हुई दिखायी देती है, जब तुम शंकाओं से घिरे रहते हो, छटपटाते और कुढ़ते रहते हो और जब दुःख, चिंता और असंतोष-पूर्ण अवस्था के विरुद्ध ज़ोर से चीख उठते हो—ठीक इसी अवस्था में तुम्हें इन पृष्ठों में वर्णित

दिव्य सत्यों को दृ...ढ़ पूर्वक ग्रहण करने का और उनको सुचारुरूप से कार्य में परिणत करने की आवश्यकता होती है।

जब तुम पीड़ा मुक्त रहते हो, जब गरम रक्त तुम्हारी नसों में अवाध प्रवाहित होता रहता है, जब तुम जीवनोल्लास में दौड़ने, कूदने और चिल्लाने का सा अनुभव करते हो, ऐसे समय यह कहना कि "मैं स्वस्थ और वलिष्ठ हूँ" सरल है। परंतु जब तुम गठिया की साँसतें, वात की व्यथाएँ और सड़े दाँत की प्राणांतक पीड़ाएँ सह रहे हो उस समय ऐसा कहना इतन आसान नहीं है। फिर भी ठीक ऐसे ही समय पर तुम्हें आत्म-संयम के अभ्यास की सबसे अधिक आवश्यकता है। हार बैठना सरल, किंतु मृत्यु-मूलक है।

अधिकांश लोगों के जीवन में ऐसा भी समय आता है जब आँखों में आँसू आ पड़ते हैं, गाल विवर्ण हो जाते हैं और प्रायः रो उठना अनिवार्य हो जाता है। उस समय तुम कहते हो, "मैं यह नहीं सह सकता, मैं यह नहीं सहूँगा !"

मैं जानता हूँ, मैं भी उस दुनियाँ में हो आया हूँ। मैं शारीरिक पीड़ा से प्रायः गतिहीन होकर खटोले पर लेट चुका हूँ, यहाँ तक कि मेरा आत्मा चीत्कार कर उठा था कि "मानव प्रकृति के लिए यह असह्य है।" बुरी से बुरी अवस्था में "सब भला ही है" कहना कठिन है। यह समय है दाँतों को ज़ोर से दबाकर यह निश्चय करने का कि मुझमें जो कुछ जीवन शेष है उसका मैं अपनी स्वास्थ्य-प्राप्ति में उपयोग करूँगा।

एक व्यक्तिगत घटना का उल्लेख इस ध्यान में सहायक होगा। प्रायः पिछले बारह महीनों तक मैं अत्याधिक 'रुग्ण' रहा हूँ। शीत, जुकाम, कमज़ोरी, बुखार की हरारत, फेफड़े में रक्त का जम जाना और स्नायविक निर्बलता ने मुझे प्रायः ध्वंस कर डाला था। एक दक्ष चिकित्सक की देख रेख में मैं कुछ २ आराम तो हो गया किन्तु बल लौटा नहीं। मैं थोड़ी दूर तक भी चल नहीं सकता था। थोड़े से भी प्रयास से थकावट हो जाती थी। मुझे बहुत शीघ्र ज़ुकाम लग जाया करता था। पेट भर भोजन करते ही ज्वर की हरारत होने लगती थी। मेरे मित्र क्षुब्ध थे कि मैं मरने तो नहीं जा रहा हूँ। मैं भी ऐसा ही सोचता था।

तब मुझ में जागृति हुई, मैंने अपना रोग अपने हाथ में लिया। यह एक पेटेण्ट दवा के विज्ञापन की भाँति देख पड़ता है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। श्री० डब्ल्यु० जे० कोलविल्लों के शब्दों में मैंने अपने आपको अपने हाथ में लिया। मैंने अनुभव किया कि मैं शक्तियों को नष्ट कर रहा था। दूसरे शब्दों में मैं अपने ऊपर अपना अधिकार खो रहा था। अस्तु, मैंने, मेरे वास्तविक स्वयं ने मुझे, मेरे शरीर को अपने हाथ में लिया। अपनी शक्तियों का मैंने संग्रह किया, उनको एकत्र किया, उन पर अधिकार जमाया और अपने ऊपर का शासन जिसे मैंने खो डाला था, फिर से पकड़ लिया।

मैंने कहा मैं नहीं मरूँगा, मेरा समय अभी नहीं आया है।

मैंने अपने शरीर से कहा, तुम स्वस्थ और बलिष्ठ हो, अपने फेफड़ों से कहा, तुम प्रमित दशा में हो, नसों से कहा, तुम अच्छी और शांत हो, मैंने बीमारी और रोग और व्यतिक्रम को अस्वीकार किया और स्वास्थ्य और बल को स्वीकार किया। मैंने शुभ विचारों को पुष्ट कर सब अशुभ भावों का नाश कर दिया। मैंने सूर्य प्रकाश का प्रवेश करने के साधारण उपाय से अन्धकार का लोप कर दिया। मैंने कहा अब मुझे जुकाम नहीं लगेगा और छः मास तक मुझे जहाँ जुकाम लगने के लक्षण दृष्टिगत हुए मैंने उसे दूर हटने की आज्ञा दी और वह भाग गया।

हम संसारोत्पत्ति के विषय में पढ़ते हैं "परमात्मा ने कहा और वही हो गया........।"

मैंने—उस महान् के सूक्ष्म रूप ने, परब्रह्म के एक प्रवाह ने, अपनी सृष्टि के रचयिता ने कहा...और वही हो गया। उसके विपरीत हो ही कैसे सकता था?

अपनी निसर्ग—निहित शक्तियों को बटोरो, तब उनका नाश करने के बदले अपने प्रत्येक विचार पर आधिपत्य जमा लो, और अपने शरीर की बागडोर को पकड़ लो, उस पर और किसी का स्वत्त्व नहीं। अपने हृदय को भौतिक आनन्दों पर न लगा कर, आध्यात्मिक वस्तुओं की प्राप्ति में लगाओ। और तुम्हारे आत्मा की नवीन अवस्था विस्तार के अनुसार तुम्हारे शरीर पर प्रतिबिम्बित होगी। यह अटल नियम है।

मैं संकल्प करता हूँ कि मैं गुणों का अभ्यास करूँगा, दुर्गुणों को भगाऊँगा। मैं कभी क्रोध या घृणा प्रकट नहीं करूँगा। मेरे सब विचार मेरे वश में रहेंगे। अपवित्र, द्वेषमूलक, अशिष्ट और कामुक भावों को मन में न लाऊँगा किन्तु पवित्र, प्रेममय साहसपूर्ण, और शांत विचारों को ग्रहण करूँगा। जिस प्रकार प्रकाश की किरणें सूर्य से प्रवाहित होती हैं, उसी प्रकार प्रेम और सादिच्छा मुझ से प्रवाहित होंगे। इस प्रकार मेरी आयु बढ़ेगी और मैं स्वास्थ्य सौख्य और शांति का मन्दिर बनूँगा।

बारहवाँ ध्यान

एकाग्रता

एकाग्रता दिव्य-शक्ति है।

मेरे प्रिय पाठक अब मैं आप को अपने रूपकमय सोपान की अंतिम सीढ़ी पर ले आया हूँ। आप देख चुके हैं (१) कि सब कुछ—नामधारी अमंगल भी परमात्मा है; (२) कि परमात्मा तुम में है, मुझ में है, सब में है अन्यथा हम जीवित रह नहीं सकते थे; (३) कि पदार्थ अस्थिर है, केवल आत्मा स्थिर है और हमारा शरीर केवल हमारा बाह्य निदर्शन मात्र है; (४) कि आत्मा ही सब कुछ है, क्योंकि वही एक मात्र वास्तविकता है और तुम सत्य आत्मा हो। (५) कि स्वास्थ्य तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है, तुम अस्वस्थ रहने के लिए कभी नहीं बनाये गये और उस परम निधि परमात्मा में तुम्हारी सब आवश्यकताएँ संगृहीत हैं जिन्हें तुम चाहते ही ले सकते हो; (६) कि सिद्धि मनुष्यता का लक्ष्य होने के कारण तुम में निहित है और तुम सिद्ध हो सकते हो क्योंकि तुम परमात्मा के पुत्र हो (७) कि तुम विचार-बल से सब कुछ कर सकते हो, शरीर का पुनर्निर्माण भी कर सकते हो, क्योंकि विश्व भर में विचार ही सब से महान् शक्ति

है; (८) कि अमंगल को अस्वीकृति (९) मंगल की स्वीकृति के लिए रास्ता तय्यार करने के हेतु आवश्यक है, रोग की सत्ता को अस्वीकार करना रोग को रोकता और दबाता है और स्वास्थ्य को स्वीकार करना स्वास्थ के स्वागत के लिये द्वार खोलता है; (१०) कि प्रेम उसी प्रकार भय को निकाल देता है जैसे स्वास्थ्य अस्वास्थ्य को और (११) कि स्वास्थ्य की प्राप्ति और रक्षा के लिए आत्म-संयम परमावश्यक है।

यह अंतिम पाठ विदाई के कुछ उपदेश शब्दों के रूप में है। यदि इस उपदेश को सावधानी से आशा और विश्वास के साथ पालन करोगे तो तुम शीघ्र ही सोपान की सर्वोच्च सीढ़ी पर खड़े होकर कह सकोगे 'मैं पूर्ण हूँ'।

जो कुछ अब लिखा जायगा, उसे इन निबंधों के अंत की अपेक्षा आरंभ में कहना अच्छा होता। किंतु मानसिक विज्ञान-वेत्ता उपचारकों और अध्यापकों के अतिरिक्त और कोई उतनी अच्छी तरह से नहीं जानता कि एक ही विषय पर अपने मन को लगातार दस पल तक भी एकाग्र रखना कितना कठिन काम है।

इसलिए आरंभ में ही आप के समक्ष एक असंभव कार्य न रख कर मैं तब तक ठहरा रहा हूँ जब तक कि भिन्न २ ध्यानों का पाठ कर आप ने एकाग्रता का थोड़ा बहुत अनुभव न कर लिया। जो कुछ काम आपने हाथ में लिया है उसकी सहायता

में एकाग्रता की क्या महत्ता है इस विषय पर मैं संक्षेप में आप का ध्यान आकर्षित करूँगा।

इन पृष्ठों को पढ़ लेने के बाद आप फिर से अपने इन ध्यानों का भली भाँति अध्ययन कर सकेंगे, उनमें निहित सत्य को अपनाने की शक्ति आप में बढ़ जायगी। उनके बार बार पाठ से आप नवीन सत्यों को वा यों कहना उचित है कि एक ही सत्य के भिन्न २ रूपों को ढूँढ़ निकालेंगे। क्योंकि एक भी वाक्य व्यर्थ नहीं लिखा गया है और प्रत्येक शब्द अर्थपूर्ण है।

यदि कुछ बारूद को पृथ्वी पर दूर तक विकीर्ण कर दो और एक दियासलाई बाल कर उसमें लगा दो तो वह एक हिस् हिस् मात्र करके जल जायगा और कोई क्षति न पहुँचा सकेगा। किंतु यदि उसे दृढ़ता से तोप के गोले में भर कर तोप से फेंको तो वह तीव्र वेग से फूट पड़ेगा, और उसका प्रभाव भी भीषण होगा।

पहली दशा में बारूद विकीर्ण था, दूसरी में वह एकाग्र था। यदि इन ध्यानों से सर्वोत्तम परिणाम चाहते हो तो उन पर अपनी शक्तियों को एकाग्र कर दो। कोई भी मनुष्य अपनी शक्तियों को सहस्रों विषयों पर विकीर्ण कर साफल्य प्राप्त नहीं कर सकता। यदि वह उन्हें एक ही वस्तु पर एकाग्र कर उसी पर लगा रहता है तो वह असफल हो नहीं सकता। एकाग्रता के माने हैं और सब वस्तुओं से पूर्णतः हटा कर एक ही वस्तु पर मन को लगाना।

यदि तुम स्वास्थ्य की इच्छा रखते हो तो अपने मन को स्वास्थ्य पर नियंत्रित करो। अपने को स्वस्थ विचारो; अपने आप से और दूसरों से स्वीकार कराओ कि तुम स्वस्थ हो, अच्छे और बलिष्ठ हो। अपने मन में अपना सर्वरोग-मुक्त और दौर्बल्य रहित चित्र खींचो और अपने मानसिक नेत्रों के सामने इस चित्र को पाँच, दस वा बीस मिनट तक लिये रहो। निश्चय ही वह चित्र वास्तविकता में परिणत हो जायगा। उसमें पहले पहल सरलता न होगी पर अपने प्रयत्न पर डटे रहो। यदि तात्कालिक फल न मिले तो हतोत्साह न हो जाओ। फल शीघ्र ही और अवश्य ही प्राप्त होंगे, पर पहले पहल शायद तुम उन्हें न जान पाओ।

डटे रहो; स्मरण रक्खो, तुम अपने शरीर के सम्राट् (वा सम्राज्ञी) हो और यदि तुम शासन की बागडोर को अपने हाथ में लेने का निश्चय किये हो तो तुम्हारा शरीर आज्ञाकारी प्रजा बन जायगी। यदि तुम अधिकार पूर्ण आवाज़ से आज्ञा दोगे तो तुम्हारी आज्ञा का पालन होगा। तुम्हारी नसों पर भार न पड़ना चाहिए, मस्तिष्क में विग्रह न उपस्थित होना चाहिए, कोई वस्तु तुम्हारी अनुचित उद्विग्नता वा शांति का कारण न होनी चाहिए। शरीर को स्वस्थ होने की शांत, गंभीर और विश्वास पूर्ण आज्ञा दो और चाहे रोग के रूप में हो, या शरीर के तुम्हारी इच्छा के प्रतिकूल होने के अधिकार के रूप

या अन्य किसी रूप में, अमंगल की सत्ता को स्वीकार करने से दृढ़तापूर्वक इन्कार कर दो।

इस प्रकार तुम स्वास्थ्य और वल की प्राप्ति और रक्षा कर सकोगे जो परमात्मा का पुत्र होने के कारण तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है।

निगल गया मैं मृत्यु, भेद भी गया पान कर मैं सारा;
कैसा मधुर पुष्ट शुचि भोजन पाता हूँ मैं बिन मारा!
भीति न कोई, शोक न कोई; नहीं लालसा की पीड़ा।
अखिल अखिल आनंद, सूर्य सद्दृष्टि करे नित ही क्रीड़ा॥
ज्ञानशून्यता, अन्धकार हैं व्याकुल औ अति हिले हुए,
काँपे औ थर्राए, ग़ायब हुए, सदा के लिए मुए।
मेरी इस जगमगी ज्योति ने उसे झुलस औ भून दिया,
अमिटानंद अहा हा!!! मैंने वाह वाह! क्या खूब किया॥

—रामतीर्थ